

वैदिकधर्म

नवम्बर १९६६

५० पैसे



श्री पं. श्री. दा. सातवलेकर प्रस्तरमूर्ति
[शिल्पकार— श्री मोहन घिमाट]



सम्मानका प्रत्युत्तर देते हुए श्री पंडितजी,
(दायें) प. ए. गुरुजी गोलवलकर



वैदिक धर्म

वर्ष ४७ : अंक ११ : आश्विन २०२३

स्वामी— स्वाध्याय-मंडल, पारडी [जि. बलसाड]

प्रधानसंपादक

पं. श्रीपाद दामोदर सातवलेकर

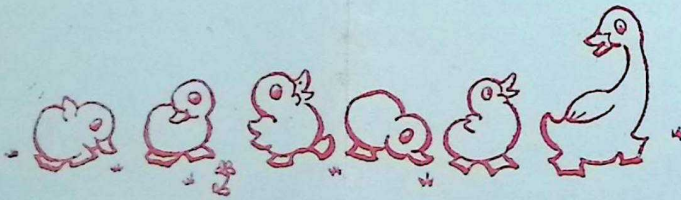
संपादक

श्री श्रुतिशील शर्मा, एम्. ए., शास्त्री, तर्कशिरोमणि

विषयानुक्रमिका



१ मनुष्योंका हितकारी बल	[वैदिक प्रार्थना]	२२५
२ वेदमूर्तिका १०० वें वर्षमें प्रवेश		२२३
३ एक ज्योति- जो अमर हो गई	श्री सत्यपाल शर्मा	२३५
४ मनका दीप जले !	श्री वद्रीप्रसाद पंचोली	२६०
५ अमिय-कलश	श्री वेदव्रत शर्मा शास्त्री	२४१
६ ऋग्वेदका सुबोध भाष्य	पं. श्री. दा. सातवलेकर	१७७ से २००



‘वैदिक धर्म’ वार्षिक मूल्य म. आ. से ५) रु.

बी. पी. से रु. ५.६९, विदेशके लिये रु. ६.५० डाक व्यय अलग रहेगा।

संपादक— स्वाध्याय-मंडल, पो.- ‘स्वाध्याय-मंडल (पारडी)’ पारडी [जि. बलसाड]

ॐ

आश्विन : विक्रमी संवत् २०२३

वैदिकधर्म

श्री हरिवंश प्रसाद शर्मा,
 धर्म निबन्ध, २/१०५, वृत्त-३,
 बुटवल, कैलाली, (नेपाल)

मनुष्योंका हितकारी बल

प्रेह्यभीहि धृष्णुहि न ते वज्रो नि यंसते ।
इन्द्रं नृम्णं हि ते शवो हनो वृत्रं जया अपो
अर्चन् अनु स्वराज्यम् ।

(ऋ. १।८०।३)

(इन्द्र) हे ऐश्वर्यवान् इन्द्र ! (प्र इहि) आगे बढ़
(अभि इहि) चारों ओरसे आगे बढ़ (धृष्णु हि) शत्रुओं-
का घर्षण कर (ते वज्रः न नियंसते) तेरे वज्रको कोई रोक
नहीं सकता । तूने (स्वराज्यं अनु अर्चन्) स्वराज्यका आदर
करते हुए जो (वृत्रं हनः) वृत्रको मारा और (अपः जय)
जलोंको जीता, (ते शवः) वह तेरा बल (नृम्णं) मनुष्योंका
हितकारी है ।

इस इन्द्रके शस्त्रास्त्रको कोई रोक नहीं सकता, इतना वह
इन्द्र बलशाली और शस्त्र चलानेमें कुशल है । पर उसका
यह बल मनुष्यों पर अत्याचार करनेमें प्रयुक्त नहीं होता,
वह हमेशा मनुष्योंका हित ही करता है, उसी प्रकार वीरका
बल मनुष्योंके लिए हितकारी हो ।



वेदमूर्तिका १०० वें वर्षमें प्रवेश



६ अक्टूबरका प्रातःकालका समय । समीरकी वह मादक अठखेलियाँ, सर्वत्र उत्साह और जोश । मण्डलके उपवनमें खिले हुए फूलोंके साथ ही लोगोंके मानसपुष्प भी विकसित थे । सभीका उत्साह अपनी चरमसीमा पर था, ऐसा प्रतीत होता था कि लोग श्री पं. सातवलेकरजीका नहीं, अपना ही शताब्दि समारोह मनाने जा रहे हैं ।

मण्डलके प्रांगणमें एक विशाल मण्डप था, उस मंडपके मध्यमें एक वेदि थी । ठीक ८॥ बजे वह आसपासका वातावरण महाराष्ट्रीय वेदपाठियोंकी वेदध्वनिसे गुंजित हो उठा । जिसने प्राचीन भारतीय तपोवनोंकी कल्पना साकार कर दी । उस अवसर पर बम्बईसे पाँच महाराष्ट्रीय वेदपाठी ब्राह्मण आमंत्रित किए गए थे । वेदपाठके साथ ही शतायुषी पंडितजी सामनेसे पधारते हुए दृष्टिगोचर हुए, उन्हें आते देखकर ब्राह्मणोंने स्वस्तिवाचनका प्रारंभ किया, उस समय ऐसा प्रतीत होता था कि मानो कुलपतिको आते देखकर कुलवासी स्वस्त्ययन कर रहे हों । सुबह ८॥ से १२ तक वेदपाठ और होमका कार्यक्रम था । उसमें बम्बईसे आए हुए पाँच वेदपाठी ब्राह्मणोंने तथा गुजरातके सुविख्यात सन्त परम पूजनीय श्री रंगावधूतके द्वारा भेजे गए प्रतिनिधि श्री चन्द्रकांत शुक्लने अपने सुस्वर वेदपाठसे एक अनोखा ही समां बांध दिया ।

इस प्रकार यज्ञका कार्यक्रम सम्पूर्णतया सोत्साह सम्पन्न हुआ । यज्ञ चल रहा था कि इसी बीचमें बम्बईसे सरसंघ चालक प. पू. गुरुजी मा. स. गोलवलकर पधारते, उन्होंने भी इस यज्ञके कार्यक्रममें भाग लिया । यज्ञकी समाप्ति पर लोगोंने पत्रपुष्प भी उपहारमें दिए । इस प्रकार उस दिनका प्रथम कार्यक्रम पूर्ण हुआ ।

तदनन्तर भोजनोपरांत सायं ५ बजे एक सभा संगठित हुई, जिसमें लगभग १ हजार व्यक्तियोंने भाग लिया । सर्व-

प्रथम ब्राह्मणोंने वेदपाठसे सभाकी सुरुआत की । तदनन्तर संस्थाके मंत्री श्री वसन्त सातवलेकरजीने विशेष अतिथि प. पू. गुरुजी तथा अन्य अभ्यागतोंका स्वागत करते हुए कहा कि—

“ श्री पंडितजीकी जन्मशतीके शुभावसरपर इस संस्थाके प्रांगणमें आप सबका स्वागत करते हुए अत्यन्त हर्ष होता है । प. पू. गुरुजीका समय देशसेवाके कार्योंमें अत्यन्त व्यस्त रहता है, यह मैं जानता हूँ । इस व्यस्तताके बावजूद भी उन्होंने हमारी प्रार्थनाको स्वीकार कर यहाँ पधारते, इसके लिए मैं उनका अत्यन्त आभारी हूँ । ”

श्री पं. जीके कार्योंकी रूपरेखा बताते हुए उन्होंने आगे कहा कि— “ श्री पंडितजीका वेदभाष्य उनके स्वतः मननका परिणाम है । उनके भाष्यग्रंथ किसी अन्य भाष्यकारके ग्रंथ पर आधारित नहीं हैं । इसी कारण उनके ग्रंथ सबसे विलक्षण हैं । उनकी विलक्षणताका कारण वेदज्ञान गहनता ही है । अन्तमें पुनः आपका स्वागत करता हूँ । ”

इसके बाद ‘संदेश वाचन’ हुआ, जिसमें राष्ट्रपति, उपराष्ट्रपति, प्रधानमंत्री, श्री स. का. पाटिल, श्री यशवन्तराव चव्हाण, डॉ. पी. वी. चेरियन, श्री नित्यानन्द कानूनगो, श्री हितेन्द्रभाई देसाई, श्री जुगलकिशोर बिरला आदि आदि नेताओंके शुभ सन्देश पढ़कर सुनाये गए ।

तदनन्तर स्वाध्यायमण्डलके कर्मचारीगणकी तरफसे श्री पंडितजीको एक सम्मानपत्र अर्पण किया गया । सम्मानपत्र अर्पण करते हुए संस्थाकी परीक्षाओंके मंत्री श्री डा. ह्याभाई पटेलने कहा, कि “ श्री पंडितजीने आजतक अपने जीवनमें जो प्रचण्ड कार्य किया है, उसकी कल्पना भी अशक्य है । उनका जीवन क्रान्तिकारी, देशभक्त, गीताभक्त, वेदभक्त इन सभी पहलुओंसे परिपूर्ण है । उनकी जन्मशताब्दीके शुभावसर पर यह सम्मानपत्र अर्पित करते हुए हम उनकी दीर्घायुके लिए परमात्मासे प्रार्थना करते हैं । ”

इसके बाद श्री श्रुतिशील शर्माने संस्था भूत, वर्तमान-कालके कार्योंका विवरण प्रस्तुत करते हुए भविष्यकी योजना-औपर प्रकाश डाला ।

इस अवसरपर मराठी साहित्यक्षेत्रके विख्यात लेखक श्री सदानन्द चेंदवणकर द्वारा लिखित श्री पंडितजीके जीवनचरित्र ग्रंथ (मराठी भाषामें) का प्रकाशन प. पू. गुरुजी द्वारा हुआ । उस प्रकाशनका प्रास्ताविक भाषण करते हुए श्री दत्तात्रय ए. देशपांडेने कहा— “ सभी महापुरुषोंका चरित्र मनुष्यके लिए प्रेरणादायक होता है । उन महापुरुषोंने अपने जीवनमें कितने भारी भारी संकटोंका सुकाबला किया, यह पढ़कर साधारण मनुष्य भी उसी मार्ग पर चलनेकी कोशिश करता है । इसी दृष्टिसे महापुरुषोंका चरित्र लिखा एवं पढ़ा जाता है । ” इस प्रास्ताविक भाषणके बाद प. पू. गुरुजीने उस ग्रंथके प्रकाशनकी घोषणा की ।

इसके बाद महाराष्ट्रके संत श्री बाबामहाराज जोशीने पंडितजीका गौरव करते हुए कहा कि—

“ पंडितजीको कोई और उपाधि देनेके बदले मैं उन्हें ‘ वेदज्योति ’ ही कहूंगा । पंडितजीने ज्योतिका ही कार्य किया है । इस ज्योतिसे ही अनेकोंने अपने दिले जलाये हैं ।

“ आजका यह प्रसंग उत्साहवर्धक है । अन्तश्चेतनाको जागृत करनेवाली भावना ही उत्साह है । सुप्त शक्तियोंका जागृत होना अत्यावश्यक है । इसके लिए हमें श्री पंडितजी एवं उनके कार्योंसे प्रेरणा लेनी चाहिए । ”

“ वेदोंमें भारतीय संस्कृतिकी स्पष्ट कल्पना दी हुई है, संभवतः इसी कारण पंडितजी वेदोंकी ओर झुके । वेद मानवी जीवनकी ज्योति है । ये आत्माको परमात्माके पास ले जानेवाले हैं । जहां वैदिक संस्कृति एवं सभ्यता नष्ट हो जाती है, वहां मानवता भी मर जाती है । अन्यथा वह अमर है । इस दृष्टिसे पंडितजी एक आदर्श पुरुष हैं । वह भी केवल भारतके ही अपितु सम्पूर्ण विश्वके । अतः केवल पंडितजीका गुणगान करना काफी नहीं है, हमें उनकी ज्योतिकी सर्वत्र फैलाना होगा । पंडितजीने यह पौधा लगा दिया है, उसे बढ़ाना हमारा कर्तव्य है । तभी हमारी श्रद्धा सफल हो सकती है । ”

तदनन्तर महाराजा सयाजीराव विश्वविद्यालय बडोदाके दर्शनविभागके अध्यक्ष डॉ. अनंत गणेश जावडेकरने

अपनी शुभ कामनायें अर्पित की । तदनन्तर प. पू. रंगावधूतके प्रतिनिधि श्री चन्द्रकान्त शुक्लने सन्तका संदेश पढ़कर सुनाया ।

इसके बाद उस दिनके विशेष अतिथि प. पू. गुरुजीने श्री पंडितजी एवं उनके कार्योंके प्रति अपनी श्रद्धा व्यक्त करते हुए कहा कि—

परम पूज्य श्री गुरुजीका भाषण

आज हम पंडितजीकी जन्मशताब्दी मनाने और उनके दीर्घायुकी कामनाके लिए एकत्र हुए हैं । वेदोंमें जो ‘ जीवेम शरदः शतम् ’ की कामना व्यक्त की गयी है उसके अनुसार सौ वर्षकी आयु बलिक कहना चाहिए कि सौ वर्षके कर्ममय जीवनकी कामना है । जीवनके २५-३० वर्ष आरंभके यों ही निकल जाते हैं । उसके बाद १०० वर्षका कर्मशील जीवन प्राप्त होना चाहिए और वह भी अदीन रहकर कर्मण्य जीवन हो । वेदोंके उपर्युक्त वाक्यका यही तात्पर्य है । श्रीकृष्ण वसुदेव-देवकीके आठवें पुत्र थे और उन्होंने १२० वर्षका कर्ममय जीवन बिताया, उस समय उनके माता-पिताकी आयु १४० वर्षसे ऊपर रही होगी । वेदोंके अनुसार सौ वर्षोंका कर्मशील जीवन प्राप्त करना चाहिए । इसके लिए दृढ मनः-संकल्प पंडितजीने किया और उनके दीर्घायुका कारण यही दृढ संकल्प है । आज हम उनके सौवें वर्षमें प्रवेश करनेके अवसरपर दीर्घायुकी कामनाके लिए एकत्र हुए हैं । यहां कोई उनके पुत्रके समान है, कोई पौत्रके समान, तो कोई प्रपौत्रके समान, ऐसे हम सब लोग यहांपर एकत्र हुए हैं ।

मृत्युको दूर रखनेवाले पंडितजीका उसी आदर्शके साथ हम लोग इस निश्चयको रखें तथा जैसा कर्मशील जीवन पंडितजीका रहा है वैसा ही कर्मशील जीवन हम भी बितानेका प्रयत्न करेंगे । जीवनके बहुविध क्षेत्रोंमें उनके कर्मशील जीवनका आदर्श हमारे सामने दिखायी देता है । अन्य लोगोंके जीवनमें एक एक विषय आ रहा है । एक-एक विषयके आदर्शके भिन्न-भिन्न प्रकारके उदाहरण हमें अनेक मिल सकते हैं । जीवनके सभी क्षेत्रोंमें आगे बढ़कर हमारा मार्गदर्शन करनेवाले तथा सभी क्षेत्रोंमें सहाती सफलता प्राप्त करनेवाले लोग कम ही होते हैं । कोई राजनीतिक क्षेत्रमें, कोई युद्धकलाके क्षेत्रमें, आगे बढ़ा हुआ दिखायी देता है । कोई अध्यात्मके क्षेत्रमें, कोई चित्रकलाके क्षेत्रमें, कोई ज्ञान-

विज्ञानके क्षेत्रमें प्रवीणता प्राप्त करता है। इस प्रकार किसी एक गुणका विशेष रूपसे विकास करनेवाले अनेक लोग हैं। ऐसे लोगोंके विषयमें कुछ कहना भी कठिन नहीं प्रतीत होता। किन्तु जब हम पंडितजी पर विचार करते हैं तो यहां हमें कठिनाईका अनुभव होता है क्योंकि यहां विविधता है। किस गुणको लेकर कहा जाय और सभी बातोंको लेकर कितना कहा जाय यह समस्या सामने खड़ी हो जाती है।

एक क्रान्तिकारी जीवनसे लेकर गहन अध्ययनपूर्ण, दीर्घ ज्ञानसंपन्न बहुविध पक्षोंसे युक्त दीर्घजीवन पंडितजीमें हमको दिखायी देता है और उसे देखकर बुद्धि चकाचौंध हो जाती है। ऐसा प्रश्न खड़ा होता है कि किस-किस पर विचार करें। अबालवृद्ध सभी लोगोंके मार्गदर्शनकी क्षमता पंडितजीमें है। उनकी सखिधियों आनेके बाद प्रत्येक यही अनुभव करता है कि पंडितजीमें शारीरिक दृष्टिसे, गुण-संवर्द्धनकी दृष्टिसे, ज्ञानकी दृष्टिसे, अध्यात्मकी दृष्टिसे, सामाजिक मार्ग-दर्शनकी दृष्टिसे मार्गदर्शनकी क्षमता है। इसके साथ पंडितजीके स्वभावमें अंतःकरणमें जो आत्मीयताकी अनुभूति है, वैसी अनुभूति बहुत कम लोगोंमें होती है। कोई उपदेष्टाका काम करता है। कोई लोगोंको तुच्छ समझकर कर्णुणाकी दृष्टिसे देखता है किन्तु आत्मीयतापूर्वक सबके बीच घुल-मिलकर बड़ेके सामने बड़ा बनकर, छोटेके सामने छोटा बनकर कार्य करनेवाले कम ही होते हैं, किन्तु पंडितजीमें यह आत्मीयता दिखाई पड़ती है। उनके एक एक कार्यमें उसे देखा जा सकता है।

उदाहरणार्थ बच्चोंको संस्कृत सिखानेका विचार उनके मनमें आया तो उसके लिए एक व्यवस्था बना दी और उनमें क्रमबद्ध रूपसे सब बातें इस ढंगसे रखीं कि अपने आप संस्कृतका ज्ञान कैसे किया जाय, यह समझा जा सकता है। लोगोंकी स्वास्थ्यरक्षाके लिए आसनके चार्ट बना दिये। सूर्यनमस्कारकी एक एक स्थितिका ज्ञान चार्ट बनाकर कराया। इतना ही नहीं व्यावहारिक रूपसे सही ज्ञान करानेमें उन्होंने तत्परता दिखाई। एक बार शाखा पर उन्होंने देखा कि बच्चे ठीक प्रकार सूर्यनमस्कार नहीं करते, दण्डकी जैसी स्थिति चाहिए वैसी स्थितियां जल्दीके कारण नहीं बन रही हैं। इसके लिए उन्होंने उपदेश नहीं दिया बल्कि तुरंत धोती समेटकर स्वयं करके दिखाया। इस प्रकार प्रात्यक्षिक मार्ग-

दर्शन जीवनके सभी क्षेत्रोंमें उन्होंने किया। शारीरिक क्षेत्रमें, कलाके क्षेत्रमें, ज्ञानवर्धनके क्षेत्रमें आदि अनेकविध क्षेत्रोंमें पंडितजीकी गुणसंपदा एकत्र हुई है। मानवको सतत जागे बढ़ानेकी अद्भुत गुण-संपदा पंडितजीमें अभिव्यक्त हुई हुई दिखाई देती है। बहुतसे कार्यकर्ता कहते हैं कि हम बुढ़े हो गये पर पंडितजी कहा करते हैं कि अभी जल्दी क्या है?

पंडितजीने वेदोंका अध्ययन किया और केवल अध्ययन ही नहीं अपितु तदनुसार अपना जीवन भी व्यतीत किया। बराबर सत्कर्म करते जाना, योग्य कर्म करना तथा कर्मशील रहना उनके जीवनका सिद्धांत है। उनका यह कहना है कि मैं कभी कर्म नहीं छोड़ता। अपने यहां कर्म त्यागका अट्टहास करानेवाले एक साधुकी कथा है। वह साधु घर छोड़कर एक लंगोटी लिए वनमें गया। एक बार जब सुबह उठकर स्नान करने गया तो उसने देखा कि उसकी लंगोटी नहीं है। उसे चूहे उठा ले गये थे। अतः पड़ोसके एक घरसे मांगकर ले आया किन्तु चूहे फिर उसका लंगोट ले गये। दुबारा फिर मांगकर चला लिया। किन्तु चूहोंको यह आदत पड़ गई थी। कहांतक लोगोंसे मांगे और लोग भी कहांतक देते। अतः चूहोंसे लंगोटकी रक्षाके लिए उसने बिल्ली पाल ली। इस प्रकार बिल्ली पालने लगे। अब जब चूहे एक एक करके निःशेष हो गये तो बिल्ली दुबली पड़ गई। अब उसके लिए क्या किया जाय? अतः उसके लिए दूध मांगने लगे। किन्तु दूध भी कहांतक मांगा जाय? लोगोंने कहा कि गाय पाल लो। गांववालोंसे एकने गाय लाकर दे दी। अब गायके लिए चारेकी व्यवस्था करनी पड़ी और चारे-पानीके लिए कामके लिए स्त्री रखी। कालान्तरमें बच्चे भी उससे हो गये। इस प्रकार कर्म छोड़नेसे कभी-कभी इस प्रकारसे कर्मबंधन हो जाते हैं जो कि छूटते नहीं हैं। कभी स्वेच्छासे, तो कभी परेच्छासे उनका जो उपभोग हमें करना पड़ता है, उसका बंधन हमें नहीं छोड़ता। उससे छुटकारा नहीं मिलता। कर्म छोड़नेसे मोक्ष प्राप्त हो, यह बात भी नहीं। संसार छोड़नेके बाद मोक्ष प्राप्त होगा, यह भी नहीं कहा जा सकता। गीतामें कहा है—

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।

इसमें 'इहैव' पर जोर है अतः इसी जगत्में ही मन और इंद्रियोंको जीतना पड़ता है। अर्थात् जिसका मन हर

परिस्थितिमें है, मन जिसके संयममें है, वही सफल हो सकता है। सुख-दुःखमें नितांत अविचल रहना जिसने सीख लिया है उसे ही सफलता मिलती है। सुख-दुःखमें, संपत्ति-विपत्ति-में नितांत अविचल रहनेका यह गुण पंडितजीमें है। उनके जीवनमें ऐसी परिस्थितियाँ कईबार आयीं। एक बार नहीं, अनेक बार संकट आयें और भिन्न-भिन्न कारणोंसे आये। एकबार अंग्रेज सरकारकी ओरसे और दुबारा जनताकी ओरसे उत्पन्न क्षोभसे। इस बार भीषण परिस्थितियोंका अवसर आया और वह भी जीवनकी वृद्धावस्थामें।

एकबार ऐसा धक्का लगा कि जीवन भरकी संपूर्ण कमाई चली गयी। वृद्धावस्थामें एक स्थानसे हटकर दूसरे स्थान पर जाना पड़ा किन्तु किसीके प्रति उनके मनमें क्षोभ उत्पन्न नहीं हुआ। फिरसे एक बार शून्यसे आरंभ करनेका दायित्व आ पड़ा, फिर भी उनके मनमें किसीके प्रति कटुता उत्पन्न नहीं हुई। उन्होंने ऐसी विकट परिस्थितियोंमें अविचल रहकर शांतिपूर्वक कार्य किया और सफलता प्राप्त की। शून्यसे आरंभ करके अपने कार्य को पुनः आज इस रूपमें खड़ा कर दिया है। ऐसा कर्ममय जीवन पंडितजीका हम लोगोंके सामने है। उन्होंने ऐसा उदाहरण हम लोगोंके सामने प्रस्तुत किया कि इसीलोकमें रहकर मनको साम्यावस्थामें रखनेका उपर्युक्त आदर्श उनके जीवनमें चरितार्थ हो गया है।

इस प्रकार उनके जीवनके कितने ही पहलुओं पर जब मैं सोचता हूँ तो हतबुद्ध हो जाता हूँ। सोचता हूँ कि यदि उन सब पर बोलूँगा तो विषयसे असम्बद्ध हो जाऊँगा और विषय के बाहर चला जाऊँगा। अतः आप सब लोगोंकी ओरसे मैं परमात्मासे यही प्रार्थना करता हूँ कि वह पंडितजीको दीर्घ-जीवी बनावें। उनके अंतःकरणकी कल्पना अदीन रहकर सौ वर्षका कर्ममय जीवन बितानेकी है—अदीनः ख्याम् शरदः शतं। मेरी यही प्रार्थना है कि सदैव उनसे मार्गदर्शन प्राप्त करते रहे, और प्रत्यक्ष दर्शन प्राप्त करके मार्गदर्शन प्राप्त कर सकें। जैसा कि पंडितजीका संकल्प है, तदनुसार वे वेदोंका कार्य संपन्न कर रहे हैं। यहाँ यह जो वेदोद्धारका कार्य हो रहा है उसे चिरजीवी बनानेमें सहायता करनेका हम लोग संकल्प करें। वेद भारतके प्राचीन ज्ञानके भण्डार हैं। पंडितजीका कार्य उसीके विश्वासरूपमें हमें प्राप्त है। वेद ही हमारे ज्ञानके, हमारी संस्कृतिके मूल हैं। अतः यह जो समस्त

बातोंकी जड़ है, उसीको समझना चाहिए। यदि इस मूलको समझ लें, इसीकी ठीक कर लें तो बहुत-कुछ ठीक हो जायेगा। सबको एक ओर रखकर वेदोंका ही अध्ययन पंडितजीने क्यों किया, इसका यदि हम विचार करें तो उसके पीछे उसी जड़को सुदृढ बनानेकी भावना रही है।

परकीय शासनके कारण हमारी परम्पराकी जो छिन्न-विच्छिन्नता हुई है उसीके कारण हमारे देशमें निराशा और दुःख फैला। जब निराशा और दुःखमेंसे श्रेष्ठ जीवनकी कोई आशाकिरण नहीं दिखायी दी तो हमारे देशमें अनेक प्रकारकी साधना-पद्धतियाँ चलीं। पिछले कालखंडमें अनेकानेक परकीय आघातोंके कारण पूर्णतया संतप्त हुए लोगोंने भगवान्का गुणगान आरम्भ किया। इस निराशामें जब श्रेष्ठ जीवनकी आशा न रही तो अनेक जीवनकी पद्धतियाँ चल पड़ीं। आचार्योंने शिष्य-परंपरा चलाकर भी यही कहा कि वेदोंको मानो। जो वेद कहते हैं वह करो। परन्तु भिन्न-भिन्न पद्धतियोंके कारण सामाजिक विष्टंखलता तो थी ही। पंडितजीने सोचा कि इससे तो काम चलेगा नहीं बल्कि हम मूलकी ओर चलें। अर्थात् वेदके अविरुद्ध, वेदके अनुकूल कर्ममार्ग पर चलें। “ जो वेदोंमें लिखा है, उसीके अनुसार चलो ” यह जो नम्रता पूर्वकालीन आचार्योंमें थी वह परवर्ती आचार्योंमें न रही। पूर्ववर्ती आचार्य शिष्य-परम्परा चलाकर भी उनमें वेदोंके प्रति मान्यताका नम्र भाव था। किन्तु परवर्ती आचार्यों तथा उनकी शिष्य-परम्परामें यह न रहा।

वे कहने लगे जो हम कहते हैं उसे मानो। यह कबसे हुआ? कहते हैं कि इसका आरंभ बुद्धसे हुआ। जो हो, आज यही दीखता है कि यहां असंख्य आचार्य हैं, उनके असंख्य संप्रदाय हैं। जितने संप्रदाय उतने ही अनेक भागोंमें समाज बँटा हुआ है जिसके फलस्वरूप हमारा ऐहिक जीवन छिन्न-भिन्न हो चुका है। शिष्य-परंपरा, मत-पंथ, जाति-उपजाति आदि अनेक प्रकारके टुकड़ोंमें बँटा हुआ यह समाज टूटा-फूटा जमघटके रूपमें दिखायी देता है। ऐसी छिन्न-विच्छिन्न स्थितिमें ऐहिक जीवनकी उत्कृष्टता संभव नहीं है। अतएव उक्त मूलका समुचित ज्ञान करके सही जीवनकी प्रतिष्ठा करनी होगी। उसके प्रति अभिमान जागृत करके तदनु रूप जीवनकी प्रतिष्ठा करनी होगी। ज्ञानसंपन्न, सुव्यवस्थित एवं कर्मण्य समाजकी स्थापना करनेका महान् राष्ट्र-भक्तिसे परिपूर्ण आदर्श अपना कर ही पंडितजीने वेदोंके उद्धार-कार्यमें अपना हाथ लगाया।

आज तो हमारे देशमें अपने स्वत्वके प्रति सम्मान नष्ट हो गया है। स्वत्वका सम्मान नष्ट हो जानेपर राष्ट्रका पतन होता है। जिस राष्ट्रमेंसे स्वत्वका स्वाभिमान चला जाये उसका विनाश अटल है, अवश्यम्भावी है। आज यदि हम जीवनमें नौकरी-चाकरी, शिक्षा-व्यवस्था, उद्योग-व्यापार आदिमें अग्रगण्य लोगोंके जीवनको देखें तो उसमें वेदोंकी परंपराका, शास्त्रोंका तो कोई परिणाम नहीं दिखायी देता, बल्कि विदेशी आदर्श और विदेशी सभ्यताका परिणाम उसमें दिखायी देता है। जब राष्ट्रमें परकीय आदर्शकी प्रतिष्ठा होती है और जब मूल भावना नष्ट हो जाती है, तब राष्ट्र-जीवनकी मृत्यु हो जाती है, ऐसा समझना चाहिए। आज कोई रूसका, कोई जर्मनीका, कोई अमेरिकाका, कोई इंग्लैंडका, कोई जापानका, कोई चीनका आदर्श अपनानेकी बात करता है। यहाँका बहुत बड़ा समाज उनके आदर्शोंकी ओर देखता है, अपने देशके आदर्शोंकी ओर नहीं। यह राष्ट्र-जीवनकी मृत्यु है। भूमि तो वही रहेगी किन्तु जिस राष्ट्र-जीवनके लिए हमारा देश प्रसिद्ध है वह नहीं रहेगा।

हमारे देशके बड़े बड़े नेता भी विदेशोंका लक्ष्य सामने रखते हैं। कोई कहते हैं कि रूसकी परंपराका अनुसरण करना चाहिए, कोई कहते हैं कि अमेरिकाकी परंपराका अनुसरण करना चाहिए। अपना कुछ है ही नहीं। परकीय अनुकरण ही रह गया है। यह पराश्रयता विचारोत्तक ही नहीं, जीवन-पद्धतिक ही नहीं अपितु स्वाद्य-व्यवस्थातक आ गयी है। आज तो हम अपने हाथसे भोजन भी नहीं कर सकते। अपने भोजनके लिए भी हमें परकीय लोगोंके चरण छूने पड़ते हैं। कितने असम्मानकी बात है कि भोजनके लिए हमें विदेशियोंके जूते चाटने पड़ते हैं। कितनी अश्रुता है। कोई कहते हैं कि जो विदेश होकर आता है उसका बड़ा आदर होता है। कभी कभी यह भी सुना जाता है कि वे विदेश होकर आये हैं, मानो बड़ा काम कर करके आये हैं। शायद इसीलिए अपने यहाँ अमेरिकासे गेहूँ आता है।

जहाँतक सुखे जानकारी है, और वह जनकारी सही रूपमें प्राप्त करनेका प्रयत्न करता है; उसके अनुसार वही अनाज आज अपने देशमें विदेशसे आता है, जो अनाज वहाँका पशु भी नहीं खाता। ऐसा दुर्गन्धयुक्त सड़ा-गला अनाज करोड़ों रुपये खर्च करके हमारे यहाँ आता है। जिसका अन्न खाओ

उसीकी जैसी बुद्धि होती है। अष्ट लोगोंका अनाज खाकर, वह भी खराब अनाज खाकर हमारी बुद्धि भी अष्ट हो रही है। उनके अनुसार जीवन बितानेकी वृत्ति बन रही है। इस प्रकार राष्ट्र-जीवन पर कुठाराघात करनेकी भयंकर स्थिति उत्पन्न हो गयी है। इस स्थितिको दूर करनेके लिए पुनरपि जड़को सुट्ट करानेकी आवश्यकता है। उसके लिये यह घोषणा करनी होगी कि Go back to the Vedas वेदोंकी ओर जाओ, उनका आदर्श अपनाओ।

कुछ लोगोंने वेदोंको गडरियोंके गीत कहा है। हमें इस पर विश्वास करनेकी आवश्यकता नहीं है क्योंकि यह वाक्य किसी खिस्तीने कहा है और वे कुछ भी कहें किन्तु वे हमारे विषयमें क्या जान सकते हैं? वेदोंमें भिन्न देवताओंकी भिन्न-भिन्न प्रकारकी स्तुतियाँ हैं। इन्द्र, वरुण, मातरिश्वा इत्यादि अनेक देवताओंकी स्तुतियाँ उनमें आती हैं किन्तु इसके साथ ही उनमें यह कहा गया कि 'एकं सद् विप्राः बहुधा वदन्ति'। इन्द्र, वरुण इत्यादि देवता एक ही ब्रह्मके भिन्न-भिन्न नाम हैं और उनको लेकर अलग अलग प्रकार स्तुतियाँ की गयी हैं। स्तुतियोंके लिए जो शब्द सूझे उनमें प्रकट हुए हैं। एक ही ब्रह्मकी ये भिन्न-भिन्न अभिव्यक्तियाँ भिन्न भिन्न प्रकारके लोगोंके लिए हैं। इनके साथ ही वेदोंमें जीवनकी एक श्रेष्ठ पद्धति भी है।

कहा जाता है कि वेदोंके उद्धारके लिए उनकी रक्षाके लिए भगवान् स्वयं जन्म लेते हैं। तो क्या गडरियोंके गीतों की रक्षा करनेके लिए अथवा अपनी स्तुति करानेके लिए ये अवतार लेते हैं। ऐसी अनावश्यक बातोंके लिए अवतार लेनेकी आवश्यकता क्या है? इस उद्धारका हेतु यह है कि वे अनेक गूढ तथा महत्त्वपूर्ण अर्थोंसे भरे हुए हैं जिनमें जीवनके प्रत्येक पहलूके लिए मार्गदर्शन है। इनमें हम देखें तो सरल शब्दप्रयोग है किन्तु ऐसी शैलीमें उनका प्रयोग हुआ है कि उनका गूढ अर्थ अभिव्यक्त होता है। जैसा कि पंडितजी कहते हैं कि उनमें आयुर्वेद है, गणित है, विज्ञान आदि सभी कुछ है। जीवनके सभी पक्षोंका सुन्दर विवेचन है। इसके लिए उनके अर्थोंको ठीक ढंगसे समझनेकी आवश्यकता है। अन्यथा हम नहीं जान पायेंगे। ये केवल स्तुति-मात्र नहीं, देवताओंके गुणवर्णन मात्र नहीं किन्तु अनेक प्रकारसे शब्दोंकी रचना करके अर्थ समझनेपर उनसे अनेक विध शास्त्रोंका ज्ञान होता है। ऐसा ज्ञान कैसे होता है?

एक ऐसा ग्रंथ मैंने देखा है— उसे एक ओर देखो तो भगवद्गीता लिखी है। चारो ओरसे देखकर पहला अक्षर ऊपरसे नीचे करके पढ़ो तो चंडी निकल आती है। तिरछा करके देखनेसे दूसरा शास्त्र निकल आता है। एक एक अक्षर छोड़कर देखो तो वैद्यकका ज्ञान प्राप्त होता है। पता नहीं क्या क्या उसमेंसे ज्ञात किया जा सकता है। तो ऐसा चमत्कार मैंने हस्तलिखित ग्रंथमें देखा है। वेदोंमें ऐसा चमत्कार भले ही न हो किन्तु एक एक शब्दका अनेकविध अर्थ निकलनेके कारण वे ज्ञानके भंडार हैं और उनसे विविध शास्त्रोंका ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। इनके विभिन्न पहलुओंका अध्ययन करके उस ज्ञान-संपदाको जनसाधारण तक पहुंचाना, यह महान् कार्य है और यह महान् कार्य पंडितजी गत अनेक वर्षोंसे कर रहे हैं।

जिस प्रकारसे पंडितजी वेदोद्धारका कार्य निरंतर कर रहे हैं, यह कार्य स्वयं अवतारका ही कार्य है। अर्थात् वेदोंका ज्ञान जो आज दुर्लभ हो गया है, उसे जनसामान्य तक पहुंचाना। पंडितजीके इस कार्यके लिए हम सब उनके आदर्शकी ओर देखें और उस कार्यको आगे बढ़ायें। मैं भगवान्से यही प्रार्थना करता हूँ कि जिस वेदोद्धारके कार्यमें पंडितजी लगे हुए हैं, उसके भिन्न भिन्न अंगोंको पूरा करने का जो महान् कार्य वे कर रहे हैं, उसे पूर्ण करके वे उसके आधार पर निर्मित स्वाभिमानपूर्ण राष्ट्रजीवन और उसके अधिष्ठान खड़ा हुआ यह राष्ट्र भरतको फिरसे जगद्गुरुका पद प्राप्त करानेवाला बन गया है, ऐसा देखनेका उन्हें अवसर प्राप्त हो। आप सब लोगोंके साथ श्रेष्ठ पंडितजीके चरणोंमें उक्त कामनाके साथ अपना सश्रद्ध प्रणाम अर्पित करके मैं अपना आजका वक्तव्य पूरा करता हूँ।

श्री पंडितजीने सम्मानका प्रत्युत्तर देते

हुए कहा कि—

परमपूजनीय गुरुजी एवं अन्य अभ्यागत अतिथिगण !

मेरे सौवें वर्षमें प्रवेश करनेके कारण आप मेरा यह सम्मान कर रहे हैं। यह देखकर मुझे आश्चर्य होता है क्योंकि प्राचीनकालीन भारतमें सौ वर्षकी आयुष्यमर्यादा बहुत सामान्य सी होती थी। उस समयके लोगोंकी औसत आयु ही सौके आसपास

होती थी, यदि यह कहा जाए तो मेरे विचारसे कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। एक नहीं, दो नहीं ऐसे अनेकों उदाहरण हमारे सामने हैं, जो मेरे इस विचारकी पुष्टि करते हैं।

(१) जब भगवान् श्रीकृष्ण स्वर्गवासी हुए, उस समय उनकी आयु १२० वर्षकी थी। यह दुःखद समाचार सुनकर उनके बड़े भाई बलरामने यह विचार कर कि श्रीकृष्णके चले जानेके बाद मैं यहां रहकर क्या करूंगा, प्राणायामके द्वारा अपने प्राणोंको अनन्तमें विलीन कर दिया। यहां यह बात लक्ष्यमें रखने योग्य है कि बलराम खाटपर पड़े पड़े 'हाय हाय' करते हुए नहीं मरे, अपितु उन्होंने स्वयं अपनी इच्छासे प्राणोंका त्याग किया !!! इसका अर्थ यह है कि उस समय भी उनका स्वास्थ्य बहुत उत्तम था और यदि वे चाहते तो २०-२५ वर्ष और अधिक जीवित रह सकते थे। भगवान् कृष्ण और बलरामके देहावसान के समय उनके माता पिता वसुदेव और देवकी जीवित थे। वे कृष्ण बलरामके अन्तके समाचारको सुनकर कहते हैं, कि 'अब कलियुग आ गया है, क्योंकि मातापिताके सामने उनके पुत्र मरने लगे हैं।' अब आप कल्पना करें, विवाहके समय वसुदेव देवकीकी आयु कमसे कम २५-२० की रही होगी और कृष्ण देवकीके आठवें पुत्र हैं, अतः कमसे कम २० वर्षकी कालमर्यादा कृष्णके जन्मके बीचमें माननी पड़ेगी। इस प्रकार वसुदेव कमसे कम १६५ वर्षके और देवकी १६० वर्षके करीब आयुवाले रहे होंगे।

(२) इसी प्रकार महाभारतकारने केवल भीष्मको ही पितामहके नामसे सम्बोधित किया है। वाकीके द्रोण, कृप, अर्जुन, युधिष्ठिर आदि सभी नवयुवक थे। अर्जुनकी आयु ७० के लगभग थी, गुरुद्रोणकी आयु १०० के आसपास थी। भीष्म पितामहकी आयु १७५ के लगभग थी। इस प्रकार महाभारतकालमें भी अर्थात् आजसे केवल पांच हजार वर्ष पूर्व १५० या इससे अधिक आयुवाला ही वृद्ध माना जाता था; और उससे कमके नवयुवक या प्रौढ़ माने जाते थे। १७५, १०० और ७० वर्षमें भी भीष्म, द्रोण और

अर्जुन भयंकर युद्ध करते हैं। इनमेंसे एक भी शय्या-पर पड़ा हुआ दृष्टिगोचर नहीं होता। भीष्म भी अन्तमें प्राणायाम द्वारा प्राण छोड़ते हैं अर्थात् इतने दीर्घकालके बाद भी उनकी मृत्यु नैसर्गिक नहीं होती। इसी प्रकार द्रोण भी वीर गति प्राप्त करते हैं और अर्जुन आदि भी महाप्रस्थानके द्वारा शरीर-त्याग करते हैं।

(३) भारतीयोंकी दीर्घकालीन जीवनकी यह स्थिति मौर्यकाल तक थी। मौर्यकालमें भारत-प्रवासपर आनेवाले यवनदेशीय यात्रियों (ग्रीक यात्रियों) ने अपने ग्रंथोंमें यह लिखा है कि भारतमें १४० वर्षके मनुष्य सड़कोंपर घूमते नजर आते हैं। १४० वर्षके होनेपर भी वे इतने शक्तिमान् हैं कि वे नवयुवकोंकी तरह भ्रमण करते हैं।

ये कुछ उदाहरण हैं जो प्राचीनभारतीयोंके दीर्घायुष्यके समर्थक हैं।

मानवजीवनके ११६ वर्षका कार्यक्रम छान्दोग्योपनिषत्कारने निश्चित किया है। हर मनुष्यको १२० वर्ष तो कमसे कम जीना ही चाहिए। ११६ वर्षके कार्यक्रमको बतानेवाले छान्दोग्योपनिषद्के वचन इस प्रकार हैं—

‘पुरुषो वाव यज्ञस्तस्य यानि चतुर्विंशति वर्षाणि तत्प्रातः सवनम्। अथ यानि चतुश्चत्वारिंशद्वर्षाणि तन्माध्यन्दिनं सवनम्। अथ यानि अष्टाचत्वारिंशत् वर्षाणि तत् तृतीयं सवनम्। माहं प्राणानां आदित्यानां मध्ये यज्ञो विलोप्सीय इति उद्धैव तत् एत्यगदो हव भवति।

(छां. उ. ३।१६।१, ३-४)

“मनुष्यका जीवन एक यज्ञ है। इसमें प्रथम २४ वर्षोंका प्रातःसवन है यही ब्रह्मचर्याश्रम है। इसके बाद ४४ वर्षोंका द्वितीय सवन या गृहस्थाश्रम है। तदनन्तर ४८ वर्षोंका तृतीय सवन या वानप्रस्थाश्रम है। इस प्रकार २४+४४+४८ = ११६ वर्षोंका

कार्यक्रम है। इन वर्षोंके बीचमें ही मैं अपने इस यज्ञको समाप्त न करूँ, इस प्रकार जो संकल्प करता है, वह नीरोगी होता है।” छान्दोग्योपनिषद्के इस कार्यक्रममें शैशवावस्थाके प्रथम चार वर्षोंको नहीं गिना है। शैशवावस्थाके प्रथम चार वर्ष और बाकीके ११६ वर्ष मिलकर कुल १२० वर्षोंका कार्यक्रम उपनिषत्कारने बताया है।

यहां जो आयुष्यमर्यादा बताई है, वह वानप्रस्थाश्रमभक्त ही है, उसके बाद एक और आश्रम तुरीयाश्रम भी है जिसे संन्यासाश्रम भी कहते हैं। संन्यासाश्रमका काल ११६ वर्षके बादका काल है, जो कमसे कम ५०-६० वर्षोंका है, इस प्रकार १७०-१७५ वर्षोंका कार्यक्रम उपनिषत्कारने मानवोंके सामने रखा है। मानवजीवन एक बड़ा भारी यज्ञ है, जो बीचमें ही तोड़ने पर पापदायक होता है। वेद अकालमृत्युका समर्थक नहीं है, वह सदा दीर्घायु-प्राप्तिका ही उपदेश देता है। यदि अनवधानके कारण मनुष्यपर मृत्युका पैर पड़ भी जाए, तो उसे चाहिए कि वह अपने पुरुषार्थसे उसे दूर कर दे—

मृत्योः पदं योपयन्तो यदैत
द्राघीय आयुः प्रतरं दधानाः।

आप्यायमानाः प्रजया धनेन
शुद्धाः पूताः भवत यज्ञियासः॥

(ऋ. १०।१।८।२)

‘हे मनुष्यो ! अपने ऊपरसे मृत्युके पैरको हटाते हुए, अपनी आयुको दीर्घ करते हुए तथा प्रजा और धनसे सन्तुष्ट होकर शुद्ध, पवित्र और यज्ञमय जीवनवाले होओ।’

इस प्रकार वेद हर एक को दीर्घायु प्राप्त करनेके लिए उपदेश देते हैं। वे केवल दीर्घायु प्राप्ति का उपदेश ही नहीं देते, अपितु उसकी प्राप्ति का मार्ग भी बताते हैं। ऋग्वेदका एक ऋषि कहता है कि—

सप्त मर्यादाः कवयस्ततश्चुः
तासामेकामिदम्यंहुरो गातु।

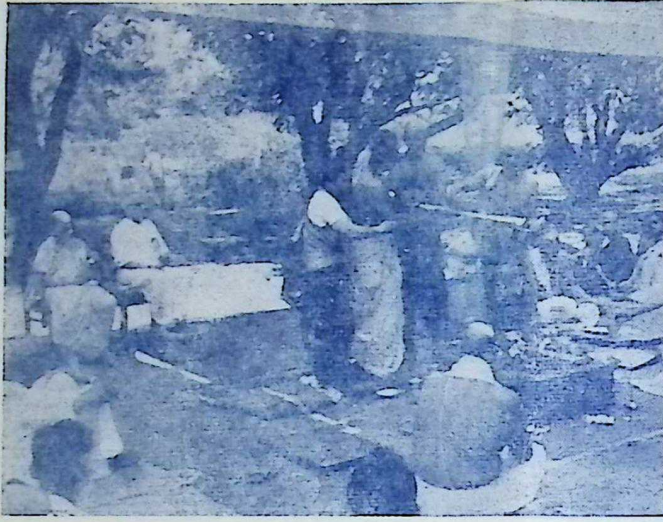
(ऋ. १०।५।१६)



श्री पंडितजीको श्रद्धासुमन देते हुए श्री गुरुजी गोलवलकर



व्यासपीठ पर आसीन ज्योतिद्वय
(बायें) श्री पंडितजी, (दायें) श्री गुरुजी गोलवलकर



होमकी अन्तिम आहुति प्रदान क्रियाका अवलोकन करते हुए पंडितजी



समारोह पर अपनी श्रद्धा व्यक्त करते हुए श्री गुरुजी

‘ज्ञानियोंने आयुकी सात मर्यादायें बांध दी हैं, उनमेंसे एक की भी अवहेलना करनेवाला मनुष्य पापी होता है।’ (१) चोरी न करना, (२) व्यभिचार न करना, (३) ब्रह्महत्या न करना, (४) भ्रूणहत्या न करना, (५) सुरापान न करना, (६) दुराचार न करना, (७) पाप हो जाने पर असत्य बोलकर उसे न छिपाना, इन सात मर्यादाओंके अन्दर रहता हुआ जो मनुष्य व्यवहार करता है, उसे अवश्य ही दीर्घजीवनकी प्राप्ति होती है। सप्त मर्यादाओंका पालन दीर्घायु प्राप्तिका प्रथम साधन है।

(२) दूसरा साधन है “कर्म”। जो मनुष्य सदा उत्तम उत्तम कर्म करता रहता है, उसका मन सदा उत्तम कर्मोंमें व्यस्त रहनेके कारण शुद्ध व निर्मल बन जाता है। ‘खाली मन शैतानका घर होता है’, यह कहावत सर्वांशमें सत्य है। खाली मन ऐसी ऐसी योजनायें बनाता है, जो स्वयंके लिए तो हानिकारक होती ही हैं, पर समाज और राष्ट्रके लिए भी भयंकर हानिकार होती हैं। इसीलिए वेदमें कहा है—

‘कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेत् शतं समाः।

(यजु. ४०।२)

अर्थात् मनुष्य इस संसारमें उत्तम कर्म करते हुए ही सौ वर्ष जीनेकी इच्छा करे।’

वस्तुतः कर्ममें ही अमृत छिपा है। कर्म करनेसे शक्ति प्राप्त होती है। “धत्ते कर्मसु चामृतं” कर्ममें ही देवोंने अमृत स्थापित किया है। इस प्रकार कर्मशील व्यक्ति अनायास ही दीर्घजीवन प्राप्त कर सकता है। जो कर्म करना ही सतयुगका चिन्ह है। उपनिषद्में कहा है— कि ‘सोती हुई अवस्था कलियुगकी है, अंगड़ाई लेती हुई अवस्था द्वापरकी होती है, निद्रासे उठनेकी अवस्था त्रेताकी है और कर्म करनेकी अवस्था सत युगकी है। अतः हे मनुष्यो ! सदा कर्म करते रहो, सदा कर्म करते रहो, सदा सदा कर्म करते रहो।’ इस प्रकार कर्म दीर्घायु प्राप्तिका दूसरा साधन है।

(३) दीर्घायुका तिसरा साधन है ‘प्राणायाम’।

काम करते करते जब सारी इन्द्रियां थक जाती हैं, तब प्राणायामसे उन्हें पुनः नवीन शक्ति प्राप्त होती है। जिस प्रकार अग्निमें पड़कर सोना कुन्दन बन जाता है, उसी प्रकार प्राणायामकी अग्निमें पड़कर इन्द्रियां शुद्ध और निर्मल बन जाती हैं। दीर्घजीवनके लिए प्राणायामका अभ्यास अत्यन्त आवश्यक है। इन तीनों साधनोंका अवलम्बन करके मनुष्य दीर्घजीवी हो सकता है।

इन बातोंको जब मैंने वेदोंमें देखीं, तो वेदोंकी ओर मेरी श्रद्धा द्विगुणित हो गई। वेदोंके साथ मेरा परिचय सर्वप्रथम हैदराबादके निवासकालमें हुआ था। वेदोंके साथ मेरे प्रथम परिचयकी भी एक अजीब कहानी है। हुआ यों कि सन् १९०० के आस-पास जब मैं बम्बईमें चित्रकला सीखकर हैदराबाद गया और वहां मेरा व्यवसाय स्थिर हो गया, तो एक दिन मैंने अथर्ववेदके १२ वें कांडके प्रथम सूक्त, जिसे “वैदिक राष्ट्रगीत” कहना अत्यन्त उपयुक्त होगा, का मन्त्र और उनका अनुवाद मराठीमें लिखा और वह छप भी गया। पर मुझे यह देखकर आश्चर्य हुआ कि उस पुस्तिकाके बाहर पड़ने भरकी देर थी कि ब्रिटिश सरकार मानों हडबडाकर उठ बैठी और सारी की सारी प्रतियां जप्त करके अग्निको समर्पित कर दीं, यह मेरे लिए एक आश्चर्यकारक घटना साबित हुई। उस समय भारतमें ऐसी स्थिति थी कि किसीके मुंहसे “स्वतंत्र” शब्द निकला कि झट ब्रिटिशसरकारके कान खड़े हो जाते थे। अतः यह घटना यद्यपि सामान्य ही कही जा सकती है, पर मेरे लिए यह सामान्य घटना एक नया मोड़ बन गई। इसी घटनासे ही प्रेरित होकर मैंने वेदोंका अध्ययन प्रारंभ किया, और आज इतने वर्षोंके सतत अध्ययनके बाद भी मैं यही अनुभव करता हूँ कि मेरा ६०-६५ वर्षोंका कार्य विशाल महासागरके एक बिन्दुके बराबर भी नहीं।

आज मैं सौवें वर्षमें प्रवेश कर रहा हूँ इसके कारण आप मेरा सम्मान कर रहे हैं। मेरा यह दृढ संकल्प है कि मैं प्राचीन ऋषियोंकी आयु प्राप्त करूंगा।

आज पूज्यनीय गुरुजी मेरी शताब्दि-प्रवेशपर मेरे सन्मानार्थ यहां पधारे हैं, तो मेरी भी यह महती अभिलाषा है कि श्री गुरुजीके शताब्दिप्रवेश पर मैं भी उनका सम्मान करूं। मेरी यह कामना परमात्मा पूर्ण करे, यही मेरी उस सर्वन्नियन्तासे प्रार्थना है।”

इसके अनन्तर आभार एवं राष्ट्रगीतके साथ सभाकी समाप्ति हुई।

इस दिनके कार्यक्रमका तीसरा आकर्षण था सुप्रसिद्ध संगीत निर्देशक श्री सुधीर फडकेका मधुर ‘गीत रामायण’ गायन। एक तो रामायणकी कथा ही आकर्षक, दूसरा संगीत

और तीसरा श्री फडकेका मधुर कण्ठस्वर, तीनोंने मिलकर ऐसा सम्राट् बांध दिया कि सारी जनता मंत्रमुग्ध हो गई। उस समय श्री पंडितजी भी मंत्रमुग्ध होकर श्री फडके ‘गीतरामायण’ की प्रशंसा करते अधाते नहीं थे। जब श्री पंडितजीने प्रसन्न होकर श्री फडकेको शाल भेंट की और उनकी पीठ पर अपना प्यार एवं आशीर्वाद भरा हाथ फेरा, उस समय श्री फडके इतने भावुक हो गये, कि उनके मुंहसे शब्द निकल न सके। उस समयके दृश्यका वर्णन करना ही असंभव है। कार्यक्रम करीब १२-१ बजे तक चला। अन्तमें श्री फडकेका आभार मानकर यह कार्यक्रम भी समाप्त हुआ। इस प्रकार उस दिनका कार्यक्रम बहुत आनन्ददायी रहा।

गीता पुरुषार्थ--बोधिनी

[लेखक— श्री पं. श्री. दा. सातवलेकर]

‘मैंने श्री पं. सातवलेकरजी की लिखी हुई श्रीमद्भगवद्गीता पर ‘पुरुषार्थ--बोधिनी’ टीका पढ़ी और मैं उससे अत्यन्त प्रभावित हुआ। यह टीका पढ़कर मैं समझ सका कि गीता केवल आध्यात्मग्रंथ ही नहीं है, अपितु वह इस लोकको बनानेवाला ग्रंथ भी है। वह संसार छोड़कर और वीतराग बनकर जंगलमें जानेका उपदेश नहीं देती, अपितु संसारमें ही रहकर पग-पग पर आनेवाले संकटोंसे किस प्रकार टक्कर ली जाए, इसका मार्ग बताती है। मेरी यह निश्चित धारणा है कि यह प्रत्येक संस्था व कालेजोंके द्वारा एक संग्रह करने योग्य ग्रंथ है।’

—महात्मागांधी

‘यह गीता पर एक अनोखी टीका है, जिसने गीताके एक महत्वपूर्ण प्रश्न पर, जो आज तक विद्वानोंकी दृष्टिसे ओझल था, भरपूर प्रकाश डाला है। मुझे यह पढ़कर अत्यन्त आनन्द हुआ। मुझे आशा है कि पाठक इसे हृदयसे अपनायेंगे।’

—चिं. द्रा. देशमुख, उपकुलपति—दिल्ली विश्वविद्यालय

यह टीका अपने ढंगकी एक ही है। जिस किसीने भी इसे पढ़ा, मुक्तकण्ठसे इसे सराहा। सभी उच्च कोटीके विद्वानोंने इसकी बड़ी प्रशंसा की। इसकी मांग अत्यधिक है, अतः पाठकोंके आग्रह पर हमें इसकी चौथी आवृत्ति निकालनी पड़ी। यह ग्रंथ हिन्दी, मराठी और अंग्रेजी तीन भाषाओंमें मिल सकती है, आप भी शीघ्रता कीजिए। शिक्षण-संस्थाओं तथा अन्य संस्थाओंको तथा व्यापारियोंको भी उचित कमीशन पर ये पुस्तकें मिल सकेंगी।

पृष्ठ संख्या ८५०]

[मूल्य ३०) रुपये (डा. व्य. पृथक्)

पुस्तक तथा विस्तृत सूचीपत्रके लिए लिखें—

व्यवस्थापक—स्वाध्याय मण्डल, पोस्ट—‘स्वाध्याय मण्डल (पारडी),’ पारडी [जि. बलसाड] (गुजरात)

एक ज्योति- जो अमर हो गई

(लेखक— श्री सत्यपाल शर्मा एम. ए. वेदशिरोमणि, डी. १८, न्यू दिल्ली साउथ एक्स्टेंशन- १, नई दिल्ली- ३)

भाग्यकी कैसी विचित्र विडम्बना है कि जिस दिन भारत भरमें अमावसके गहन अंधकारको अपनी टिमटिमाती छोटी छोटी नन्हीं नन्हीं ज्वालाओंसे यथाशक्ति दूर करनेके लिए भूमिपर दीपमालिकाएँ अवतरित हुईं, इसी दिन अज्ञान अंधकारको दूर करनेके लिए अवतरित वेदका वह महान् सूर्य दिवंगत हो गया। संभवतः वह सूर्य जाते जाते यह कह देना चाहता था—

‘मैं तो अपना कर्तव्य पूरा करके जा रहा हूँ। (I have broken the ice) वर्षोंसे जिस मार्गपर बरफकी परत पर परत जमती चली जा रही थी और उन परतोंके नीचे दबा हुआ वास्तविक मार्ग विश्वके लिए अगम्य, अज्ञेय और अदृश्य हो चुका था, अपने संक्षिप्त कार्यकालमें वह भारी बरफ जगह जगहसे हटाकर मैंने उस मार्गको यथासंभव गम्य, ज्ञेय और दृश्य बना दिया है। अपने उस प्रकाश पुंजको अब मैं— ऐ दीपमालिके ! तुम्हारे हजारों दीपोंमें दे चला हूँ, जरा इनका खयाल रखना, कहीं ये दीपक बुझ न जाएँ— यदि ये दीपक भी एक एक करके बुझते चले गए तो मेरा सारा किया कराया मिट्टी हो जाएगा, मेरी वर्षोंकी तपस्या निरर्थक हो जाएगी— फिर मार्गपर बरफ जमने लगेगी और वह मार्ग फिरसे अगम्य, अज्ञेय और अदृश्य हो जाएगा।’

महर्षिके निर्वाणके बाद— प्रसन्नताकी बात है कि— आर्य-समाजके क्षेत्रमें जो भी दीपक आए, वे इतने सामर्थ्यवान और प्रकाशमय ज्योतिःपुंज निकले कि महर्षिने मार्गका जो जो भाग दृश्य एवं लक्ष्य बना दिया था, उसको उन्होंने और भी अधिक प्रकाशित किया— उनके विस्तारको और बढ़ाया और महर्षिने जो कुछ प्रतिपादित किया उसे और आगे बढ़ाया और बड़ी तेजीसे बढ़ाया। उन्हींकी तपस्या और

साधनाका फल है कि बम्बई और लाहौरके आर्यसमाजोंके रूपमें महर्षिके कर कमलोंसे रोपित वट वृक्षके दो नन्हे नन्हे पौधे आज इतने विस्तृत एवं विशाल हो चुके हैं— उनकी शाखाएँ इतनी शाखा-प्रशाखाओंमें फैल चुकी हैं कि आज आर्यसमाजके इस महान् वटवृक्षके नीचे लाखों भक्तगण सुखकी साँस ले रहे हैं कि आखिरकार उनको एक ऐसा मार्ग मिल गया जो उनको बड़ी आसानीसे उनके लक्ष्यतक पहुँचा सकता है।

ऐसे अवसरोंपर संबंधित संस्थाओंको चाहिए कि वे केवल भूतकालकी अपनी कीर्तिमय गाथाओंका गान ही न करते रहें कि हमने यह किया और वह किया। इस प्रकारकी यशोगाथासे गौरवका अनुभव अवश्य होता है पर भविष्यके लिए कोई कार्यक्रम नहीं मिल पाता। निर्माण तो भविष्यका ही होगा न ? भूतकाल तो जैसा कुछ था, था और वह बीत गया। भूतकालसे अनुभव प्राप्त करके भविष्यके निर्माणके लिए वर्तमानमें निरन्तर प्रयत्न करना यह होना चाहिए लक्ष्य। परन्तु हम अभीतक ‘यह किया, वह किया’ का गान करते चले आते हैं, जिसका फल यह हुआ है कि— “यशःपूर्ण भूतकालके इतिहासकी पृष्ठभूमिपर आर्यसमाजकी वर्तमान प्रगतिके बारेमें यदि सोचा जाए तो ऐसा लगेगा मानों आर्यसमाज अब एक तालाब बन चुका है— जिसमें कोई प्रवाह नहीं है, कोई चेतना या गति नहीं, उत्साह और स्फूर्तिकी कोई लहर उठती नहीं दिखाई देती।”

यह निश्चित बात है कि समाज सभी प्रकारके संदूषणोंसे तभी दूर रहता है जब कि उसके प्रवाहमें नदीकी सी निरन्तरता हो, गतिशीलता हो, प्रवाह हो। आज वह गति, निरन्तरता और स्फूर्ति आर्यसमाजमें दृष्टिगोचर नहीं होती। ऐसी सामान्य परिस्थितिको देखते हुए आर्यसमाजके द्वारा

छेडे जानेवाले जब कभीके ये छोटे मोटे आन्दोलन ऐसे लगते हैं जैसे कोई घोर निद्रामें सोया हुआ आदमी रात्रिके शून्यमें अचानक ही कुछ बडबडा उठे। इस आकस्मिक बडबडानेसे कोई दुनियांकी परिस्थिति पर प्रभाव पडनेवाला नहीं है। मालूम पडता है हम कहीं शून्यमें खो गए हैं। हमारे पूर्व तपस्वियोंने क्या हमें कहीं किसी ऐसे रेगिस्तानमें तो नहीं ला पटका है जहाँ जाकर हमें रास्ता ही सूझ न रहा हो। यद्यपि बात ऐसी नहीं है, पर हम अपनी ही गलतीसे सारी दिशाएँ भूल चुके हैं। अपना लक्ष्य भूल चुके हैं।

स्वतंत्रताके बाद भारतमें होनेवाले इन राजनैतिक आन्दोलनोंने तथा इस परिवर्तनने हमें भुलावेमें डाल दिया मालूम होता है। अथवा यह भी संभव है कि अब सारा विश्व पूर्णतः आर्य बन चुका है और आर्यसमाजके कार्यकर्ताओंके लिए करने धरनेको कोई बात ही नहीं रह गई। आर्यसमाजने सामान्य मनुष्य समाजका सुधार किया। परन्तु होना चाहिए था कि जितना पग दूसरा समाज आगे बढ़ता—उसके कइनेकी दिशामें—आर्यसमाज उस मनुष्य समाजसे कई पग आगे बढ जाता। पिता बच्चेको चलाना सिखाता है। अपने छोटे छोटे कदमोंसे बच्चा जितना आगे बढ़ता है पिता उतने ही कदम और आगे चला जाता है। आर्यसमाजने अपने आपको पिता तो माना, पर पिता जैसे उसने व्यवहार नहीं किया। फलतः बच्चा और पिता दोनों एक ही लाइन पर आकर खडे हो गए हैं और पिता सोच नहीं पा रहा कि अब मैं क्या करूँ। यह बात नहीं कि करनेके लिए उसके पास कुछ नहीं है—असलमें बात यह है कि अभी तक तो मैदान था—सरपट दौड लगा रहा था पर अब कुछ पर्वत आ गए हैं जिनपर चढना है और वह आलस्य कर रहा है—इन पर्वतों पर चढता नहीं है। जिस दिन इन पर्वतों पर चढ चाएगा वह मैदानमें खडे आदमियोंसे फिर ऊँचा हो जाएगा। खुद नीचे खडा होकर कोई आदमी दूसरेको ऊँचा नहीं चढा सकता।

वह खुद पहले ऊपर जाए फिर दूसरेको खींचे तो बड़ी आसानीसे वह उसतक चला आता है। समाजका उत्थान करनेका ढंग भी यही है। सामान्य मनुष्योंसे (जो आर्य-सभासद् नहीं हैं) आर्य सदस्य, उनसे आर्य सभासद्, आर्य-सभासदोंकी अपेक्षा कार्यकारिणों—सदस्य, उनसे भी पदाधिकारी, उनमें भी मन्त्री, उससे प्रधान, उससे भी जिला

सभाके मन्त्री प्रधान, उनसे भी प्रांतीय सभाओंके पदाधिकारी और उनसे भी सभी आर्य पुरोहित और नेता आगे आगे—उत्तरोत्तर ज्ञानमें, अनुभवमें, आचरणमें, सङ्कल्प और दृढतामें, भविष्यकी कल्पनामें, वर्तमानके आयोजनमें अधिक पटु, अधिक कुशल, अधिक दक्ष, अधिक सामर्थ्यवान् और अधिक यशस्वी एवं तेजस्वी हों तब जाकर बात बनेगी। ऐसा बननेके लिए हम सबको तपस्या करनी होगी। किन्हीं नेताओंकी निन्दा कर देने अथवा किन्हीं समाजों या संस्थाओंको तुच्छ बता देने मात्रसे काम नहीं बनेगा। हम सभी दुर्बल हैं। हम सभीको उन्नतिके लिए प्रयत्न करना होगा। हम सभी अपने लक्ष्योंसे बहुत दूर पडे हुए हैं।

तो आइए, आज हम निर्वाण दिवस पर एक प्रतिज्ञा करें। हम प्रतिज्ञा करें कि महर्षि दयानन्दके लगाए हुए इस वट-वृक्षको और विस्तृत करते चले जाएँगे। हम प्रतिज्ञा करें कि महर्षि स्वयं निर्वाण पदको प्राप्त करते हुए जिन दीपकोंको अपनी ज्योति दे गए उनसे और दीप जलाएँगे। जो दीपक इस समय जल रहे हैं—जो अब टिमटिमातेसे लगते हैं—जिनकी रोशनी बुझी बुझीसी मद्धिम दिखलाई देने लगी है—उन्हें बुझने न देंगे—उनके प्रकाशको तीव्र करनेके लिए अपनी सारी शक्ति लगा देंगे।

श्री राधाकृष्णन्ने कदा था 'यदि भारतमें प्रजातन्त्रका दीपक बुझ गया तो समझिए एशियाका दीपक बुझ गया'। आर्यसमाजके बारेमें भी यही कुछ कहा जा सकता है। 'युगों युगोंके बाद, कई वर्षोंकी तपस्यासे खून पसीना एक करके, सारे सुखोंको तिलांजलि देकर, तन और मनको महान्से महान् कष्टोंकी आगसे तपाकर उस महर्षिने आर्य-समाजकी स्थापना करके जिस वैदिक संस्कृतिका उद्धार किया, भारत—भूको राम और कृष्णके स्वप्नका भारत बनानेका प्रयत्न किया, जबतक वह आर्यसमाज जीवित रहेगा भारत जीवित रहेगा, उसकी संस्कृति जीवित रहेगी'।

जब आर्यसमाज सो जाता है मालूम पडता है धर्म सो गया, भारत देश सो गया, जिस समय आर्यसमाज कुछ करने चल पडता है मालूम पडता है शान्त और निस्तेज धर्मक्षेत्रमें एक चेतना आ गई, भारतकी रंग रंगमें खून दौडने लगा। हमें आज सोचना है—आपसके लडाई झगडोंसे आर्यसमाज आन्दोलनको हानि पहुँचानेवाले हम लोग

आखिर क्या चाहते हैं ? क्या समझते हैं कि इनसे आर्य-समाज आन्दोलनमें तीव्रता आएगी ? हम इस प्रकारका अपना आचार व्यवहार बनाकर उस वट वृक्षकी जड़में आग क्यों लगा देना चाहते हैं ? वहाँ कष्ट सहकर महर्षिने जो भवन बनाया उसे ढहाकर क्या पुण्यशाली बनना चाहते हैं ? महर्षि जो दीपक जगा गए उनको बुझाकर हम अपने सिर पर धर्म-हत्या, संस्कृति-हत्या और देश-हत्याका भयंकर पाप क्यों लेना चाहते हैं ?

हम जिस आचार्यसे प्यार करते हैं, जिसके सन्देशोंमें हमारी अमित और अटूट श्रद्धा है, जिसकी साधना और तपस्याके आगे हमारा और किसीका भी सिर झुके जाता है, जिस महर्षिके एक एक पसीनेकी बूंदपर सँहस्रोने अपना खून बहा दिया, आज उनके दिए इस अमूल्य वरदानको अपने ही हाथों क्यों समाप्त कर देना चाहते हैं ? यह जो बीमारी है यही बताती है कि आर्यसमाज और उनके सदस्योंकी नसोंमें या तो पानी बह रहा है या गन्दा खून। हमें बीमारी का जल्दीसे जल्दी इलाज करना होगा। वह कैसे ? जैसे मैंने पहले कहा, आइए, हम अपने भूतकालकी यशोगाथाएँ गानेके बजाए यह सोचें कि 'हमने क्या नहीं किया' ? अभीतक जो नहीं कर पाए उनपर मनन करें, उनका विश्लेषण करें। उन्हें पूरा करनेके लिए योजनाएँ बनाएँ। उनके अनुसार काम करें। 'खाली दिमाग शैतानका कारखाना होता है' हम अपने दिमागको कभी शून्य ही न रहने दें। आर्य समाज क्या कुछ कर सकता था जो कि वह कर नहीं पाया उसकी एक संक्षिप्त तालिका यहाँ दे रहा हूँ— यही कुछ नहीं है— बातें और भी हो सकती हैं। पर उदाहरण रूपमें ये चीजें मैं दे रहा हूँ। हम इन बातोंपर सोचें—

‘आर्यसमाज और हिन्दी— इस विषयपर मैंने एक उद्बोधन स्वरूप एक लेख भी भेजा था। आर्यसमाजके सभी पत्रोंमें छपा परन्तु एक मात्र समाज जिसमें हमने कुछ चेतना जागृत की— वह थी वल्लभगढकी आर्यसमाज। शेष कहींसे चेतनाका कोई अंश मुझे नहीं मिला। मैं आपसे ही पूछता हूँ—

१. क्या आपके आर्यसमाजके क्षेत्रमें हिन्दी पूरी तरह प्रतिष्ठित हो चुकी है।

२. यदि हाँ, तो बड़ी प्रसन्नताकी बात है, यदि नहीं तो

सौ वर्षका पंचांग

इस सौ वर्षके पंचांगमें वर्ष, मास, तारीख अन्य देशोंका समयचक्र तथा ज्योतिषचक्र सभी की गणना उत्तम रीतिसे और बिल्कुल ठीक ठीक की है। यह एक महान् अन्तर्राष्ट्रीय प्रकाशन है। सीमित प्रतियाँ ही शेष हैं। आफिस, स्कूल, घर और पुस्तकालयोंके लिए अत्यन्त लाभदायक एवं उपयोगी है।

मूल्य ५.०० पाँच रुपया, रजिस्ट्री द्वारा ६.००

लिखिए—

कोचीकार एजेन्सी, ८४८६ टी. डी.
उल्ल्यू गेट, पो. बॉ. नं. १३३. कोचीन-२

फिर आप क्यों नहीं खड़े होते ? कठिनाइयाँ हो सकती हैं, पर उनका हल भी तो है।

३. हिन्दीके क्षेत्रमें आर्यसमाजको बहुत कुछ करना चाहिए था— बहुत कुछ कर सकता था— पर जैसा कि मैं कह चुका हूँ भूतकालकी निराशासे ऊपर उठकर हम शक्तिके लिए अपने आपको कटिबद्ध कर लें। इस क्षेत्रमें आर्यसमाजको दूसरी संस्थाओंसे आगे बढ़कर काम करना चाहिए। आर्यभाषा और हिन्दीको राष्ट्रभाषा बनानेका स्वप्न सबसे पहले महर्षि दयानन्दके मस्तिष्कमें आया। पर हमारी अकर्मण्यतासे उस क्षेत्रका श्रेय और ले गए और आज राष्ट्रभाषाका स्वप्न देखनेवालोंमें महर्षिको वह स्थान प्राप्त नहीं है जो होना चाहिए था। कारण है हमारी उदासीनता। महर्षिका नाम हम ही तो ला सकते थे, पर हमने कोई रचनात्मक योजना नहीं बनाई और बैठे बैठे देखते रहे। अब भी बहुत कुछ हो सकता है। समय है।

२. हरएक आर्यसमाजको संस्कृत पाठशाला खोलनी चाहिए थी। संस्कृत भाषाका दीपक भारतीयोंके ही हाथों बुझाया जा रहा है। संस्कृत न रही तो वेद और उपनिषदोंका प्रचार क्या होगा। गंभीरतासे सोचें और इसकी योजना बनाएँ।

३. गोहत्या बन्द करानेका आन्दोलन चल रहा है। गोसंवर्धनका एक और भी तो पहलू है। गोसंवर्धनकी रचनात्मक योजना क्यों न तैयार की जाए? क्या यह संभव नहीं है कि आर्यसमाजों अपने अपने क्षेत्रमें कमसे कम एक गोशालाका प्रबंध करें। दिल्लीमें तो इतनी सारी और इतनी धनी आर्यसमाजें हैं और उनमें इतने प्रतिष्ठित और प्रभावशाली व्यक्ति हैं कि सारी समाजें मिलकर यदि चाहें तो, दिल्लीमें एक बहुत बड़ी गोशाला स्थापित कर सकती हैं। गोमाताका मधुर दूध जिनके भी गले उतरेगा वे निश्चित ही आर्य बन जाएंगे। वैदिकधर्मके प्रचारका यह एक बहुत बड़ा साधन हो सकता है। सनातनी भाई तो केवल राम और कृष्णके नाम लेना और गौकी पूंछमें कुमकुम मात्र लगानेवाले हो गए। हम तो इन सबमें बहुत दूर हैं।

‘धर्मका प्रचार और समाजसुधार केवल प्रचार और सुधारका ढोल पीटने मात्रसे तो नहीं होगा।’ मनुष्य समाजके व्यक्ति व्यक्तिके हृदयको जीतनेके लिए हमें उसके जीवनको सहारा देना होगा। समाजके लिए कुछ सुविधाएँ करनी होंगी। समाजकी सुविधाओंके लिए हम जितनी ही रचनात्मक योजनाएँ बनाएँगे, उनको क्रियान्वित करेंगे उतना ही हमारा अपना प्रचार होता चला जाएगा। नागालैंड, केरल तथा अन्य आदिम जातियोंके क्षेत्रोंमें बेपटे लिखे आदिमियोंकी शोपडियोंपर जो क्रॉस (+) के चिह्न लगे दीखते हैं—वे इसलिए नहीं लगे कि उन्होंने बाइबिल पढ़ी या पादरी लोग जाकरके ईसाका अमर सन्देश उनके मन और बुद्धिमें अंकित कर आए, अपितु इसलिए कि उन्होंने उनको सुविधाएँ दीं, दूधका पावडर दिया, पैसा दिया, काम दिया, कपडे दिए, गरीबीके कीचडसे उनको उबारा और वे गरीबी और दुःखों और कष्टोंसे कुछ मुक्त होकर खुली हवामें सुखकी साँस लेने लगे।

इस तरह जिसने उन्हें सबसे पहले जीवनमें उबारा वह क्रॉस था (+), यह उनकी आत्मपर भी लग गया और शोपडी पर भी। यह एक वास्तविकता है जिसे हम नजर अन्दाज नहीं कर सकते। हमें भी ऐसी सुविधाएँ समाजके लिए—अधिकसे अधिक पैदा करनेके लिए प्रयत्न करना होगा। इस दृष्टिसे गोशालाकी योजना बहुत ही उपयोगी सिद्ध हो सकती है।

४. इसी प्रकारकी एक और सुविधा है— दवाइयोंकी। हर आर्यसमाज अपने यहाँ एक धर्मार्थ औषधालय स्थापित करे।

५. इनके अतिरिक्त समाजकी नींवको दृढ़ करनेकी दृष्टिसे जो बात प्रस्तुत करनी है वह यह कि ‘अभी तक आर्यसमाजोंने चूना, मिट्टी और ईंटोंके नश्वर भवन बनानेमें अपनी सारी शक्ति लगाई। हम धनियोंको सदा यही उपदेश देते हैं’ “क्यों अपना पैसा आप लोग इस चूने मिट्टीमें लगा रहे हैं, यह साथ नहीं जाना, इन्हीं पैसोंसे वे भवन बनाओ जो तुम्हारे साथ जाएंगे।” हूबहू यही बात आर्यसमाजोंको कही जा सकती है। इन भवनोंके बनानेमें अपनी सारी शक्ति लगाकर हम इतने अशक्त हो गए कि आर्यसमाजका असली भवन जो व्यक्ति, परिवार और समाजको लेकर खड़ा किया जाना था, कर नहीं पाए। बल्कि इस मिट्टी चूनेके भवनके, (जो साधन था, हमने साध्य समझ लिया) जब किसी आर्यसमाजका कोई भवन बन जाता है वह आर्यसमाज समझती है कि कर्तव्यकी इतिश्री हो गई। यह भावना बदलनी होगी। हमें आर्यसमाजका असली भवन—आर्य व्यक्ति, आर्य पुरुष, आर्य स्त्री, आर्य बालक, आर्य बालिका, आर्य परिवार बनानेमें अब पूरी शक्ति लगा देनी चाहिए। यही हैं वे आधार जिनपर आर्यसमाजका खड़ा किया हुआ भवन अविनश्वर रहेगा।

ये कुछ बातें मेरे मस्तिष्कमें बहुत दिनोंसे आ रही थीं। इन्हें आज मैं निर्वाण दिवसके अवसर पर आपके संमुख रख रहा हूँ। हम इन बातोंको सोचें। पर सोचते ही न रह जाएँ।

‘सोचना, सोचना और सोचते रहना बुढ़ापा है। बुढ़ापा आधी मौत है। सोचना और सोचकर कर देना जवानी है।’

श्री महात्मा भगवान् दीनजीके ये वाक्य सदा हमारे सामने रहें। जो आर्यसमाज इनको सोचकर कार्यक्रम बनाकर कुछ करने लगेंगी समझना चाहिए उनमें जवानी है। वे जवान हैं। जो सोचती ही रह जाएँ वे बूढ़ी हो गई हैं। जिनके कानों पर इन शब्दोंको सुनकर जूँ भी न रेंगे, वे मृत हैं।

ईसाइयत और अन्य विधर्मियोंका प्रसार आर्यसमाज इन्हीं योजनाओंको क्रियान्वित करके कर सकता है। हम स्वाध्यायशील बनें, आर्यसमाजके साहित्यको इतर व्यक्ति-

योंके घरोंमें अधिकसे अधिक पहुँचाएँ, आर्यसमाजें अपने बजटमें साहित्य-वितरणके लिए काफी कुछ धनराशि अलगसे रखें, बजट बनाएँ तो इन उपर्युक्त योजनाओंको प्रथम स्थान दें, यदि इस प्रकार योजना बढ़ काम किया गया तो समझिए कि आर्यसमाजकी नस नसमें नया खून दौड़ने लगेगा। बूढ़े जवानोंको आकृष्ट नहीं कर सकते। आर्यसमाजमें युवक क्यों नहीं भाग लेते ? इसका सीधा सादा उत्तर यह है कि उपर्युक्त प्रकारकी योजनाओंको क्रियान्वित न करनेके कारण आर्यसमाजोंकी नसोंमें खून जमने लगा है, आर्यसमाजें बूढ़ी हो चली हैं, जवान कभी बूढ़ोंके पास जाता है ?

“ मैं बूढ़ा नहीं हूँ, मेरी आर्यसमाज बूढ़ी नहीं है, ” यदि आप यह सङ्कल्प करना चाहते हैं तो अपने अन्दर और अपनी आर्यसमाजोंकी नसोंमें नया खून लाइए। उपर्युक्त योजनाओंको, यदि सबको नहीं, तो कुछ को ही सही काममें लाइए।

“ इन्द्र उच्चरतः सखा ”

परमात्मा उसका सखा है जो चलता है, परिश्रमी है। आलसियों और प्रमादियोंका साथ राक्षस तो देते हैं और भाव-द्वेष, असूया, ईर्ष्या, लडाई, झगडे आदि भी देते हैं, परमात्मा कभी नहीं देता।

“ यो जागार तमयं सोम आह
तवाहमस्मि सख्ये न्योकाः । ”

परमात्मा उसीकी मित्रताको स्वीकार करते हैं जो जाग रहे हैं। सोनेवालोंको वह भी नहीं पूछता।

आइये, हम आर्य बनें, उसके वास्तविक पुत्र और सखा बनें, जगें, कुछ काम करें, आलस्य और प्रमादको छोड़ें। समय भागा जा रहा है। चला गया तो फिर हाथ नहीं आएगा।

टी. बी. (तपेदिक) की

अचूक चिकित्सा घर बैठे करें। ५८ वर्षकी खोज अनुभव एवं परीक्षणका परिणाम, ‘ यज्ञचिकित्सा ’ मूल्य ५.०० सेनेटोरियमका परिणाम ८०%। लेखक—सरकार द्वारा अनेकबार पुरस्कृत एवं सम्मानित स्व. डा. फुन्दनलालजी अग्निहोत्री एम. डी (लंडन) मेडिकल आफिसर टी. बी. सेनेटोरियम।

लेखकोंका कुछ अन्य पुस्तकें

(२) आयुर्वेदिक प्राकृतिक चिकित्सा—आमुख लेखक—स्व. श्री मावलंकरजी, अध्यक्ष लोकसभा। हर रोगकी सरल अचूक चिकित्सा घर पर ही स्वयं करें। मू. ४.००

(३) आरोग्यशास्त्र—सर्वदा स्वस्थ रहनेके वैज्ञानिक अनुभूत नियम बतानेवाली अपने विषयकी एकमात्र पुस्तक। उपहारमें देनेके लिए अनुपम भेंट। मू. २.००

(उक्त पुस्तकें शिक्षा विभाग एवं पंचायतराज द्वारा स्वीकृत और सरकार द्वारा पुरस्कृत हैं।)

(४) राष्ट्र उत्थानकी कुंजी—गऊ प्रदत्त पदार्थों द्वारा अनेक रोगोंकी चिकित्सा एवं गऊकी उपयोगिता बतानेवाली अनूठी पुस्तक। मू. ००.५० डाक न्यय सबका पृथक्

स्वास्थ्य भंडार, १६ केला बाग, बरेली,

वांच, स्वास्थ्य भंडार, 7A/३ लाजपतनगर, लखनऊ

मनका दीप जले !

(लेखक— डॉ. वद्रीप्रसाद पंचोली, प्राध्यापक, गवर्नमेण्ट कॉलेज, विजयनिवास, मदनगंज, किशनगढ)

भरामेधं कृणवामा हवींषि ते
चितयन्तः पर्वणापर्वणा वयम् ।
जीवातवे प्रतरं साधया धियोऽग्ने
सख्ये मा रिषामा वयं तव ॥ (ऋग्वेद १।१४।४)

(१)

(अग्ने) हे अग्नि, तुझे प्रदीप्त करनेके लिए हम (इधमं भराम) समिधाओंको धारण करें तथा (पर्वणा पर्वणा चितयन्तः) प्रत्येक पर्वमें तुझे प्रदीप्त करते हुए (वयं ते हवींषि कृणवाम) हम हवि करें । (जीवातवे) जीवन या आयुकी वृद्धिके लिए (धियः प्रतरं साधय) तुम बुद्धियोंको उत्तम बनाओ । (तव सख्ये वयं मा रिषाम) तुम्हारी मैत्रीका लाभ करके हम कभी दुःखी न हों ।

(२)

इस मंत्रमें ज्योतिर्मय परम-पुरुषसे मैत्री प्राप्त करके और इस प्रकार स्वयं ज्योतिर्मय बनकर जीवनको दीर्घ व दिव्य बनानेके लिए प्रयत्नशील होनेकी कामना की गई है । मंत्रके ऋषि आंगिरस कुत्स हैं । निघंटुमें कुत्सको वज्रका नाम माना गया है । यास्क वज्रका सम्बन्ध वर्जन करनेसे मानते हैं । इसी तरह कुत्सकी निरुक्ति ' काटने ' (कृन्तते) से मानते हैं (निरुक्त ६।२।५) इसप्रकार कुत्सित कर्मोंको वर्जित करनेवाला या काटनेवाला ही कुत्स है । औपमन्यव के मतानुसार स्तोमोंका कर्ता ही कुत्स है । स्तोमोंमें गोष्टोम, ज्योतिष्टोम या अग्निष्टोम तथा आयुष्टोमके नाम उल्लेखनीय हैं । इनकी साधना करके प्रज्ञाबल, आयु और दिव्य चक्षु प्राप्त करनेवाला ही कुत्स कहा जा सकता है । इस मंत्रमें भी अग्निसे ज्योति, आयु और बुद्धिके लिए प्रार्थना की गई है । इनसे सम्पन्न होनेपर उसके बंगोंमें विशेष शक्ति जाग्रत हो जाती है— वह वज्रांग या दृढांग हो जाता है । ऐसा

अग्निस्वरूप घटघटवासी परमेश्वरकी कृपाके कारण होता है । इसलिए ऋषिको आंगिरस कुत्स कहा गया है ।

मंत्रका देवता अग्नि है । सब देवता अग्निके ही रूप हैं । प्राणीमें उसका समिद्ध रूप निहित है । वह परम ज्योति स्वरूप है और ज्योतिवादी बननेके लिए साधना करनेवालेको ज्योति, आयुके आकांक्षीको दीर्घायु और प्रज्ञाबलकी आकांक्षा करने वालेको प्रज्ञाबल प्रदान करता है । मंत्रमें यह देवता जगती छन्दमें अवतरित है । यह छन्द छुल्लोकेसे सम्बद्ध है और आदित्यरूप है । इसमें ४८ अक्षर होते हैं । ४८ वर्षों तक साधनामय जीवन बितानेवाले व्यक्तिको आदित्य संज्ञा से अभिहित किया जाता है । जगतीको यास्कने गततम छन्द कहा है अर्थात् इससे परे कोई छन्द नहीं है । छन्द बंधनका नाम है । जगती छन्दमें निहित इस साधनाके बाद सब प्रकारके बंधन समाप्त हो जाते हैं और दिव्यभावकी प्राप्ति हो जाती है । जगतीको जलचर गति (यास्क, निरुक्त ७।३।९) भी कहा गया है । जलचरोंमें मीनकी प्रशंसा भक्त-साधकोंने की है । उसके सच्चे स्नेहके विषयमें तुलसी ने कहा है—

देउ आपनैं हाथ जल, मीनहि माहुर घोरि ।
तुलसी जिये जो वारि बिनु, तौ तु देहि कवि खेरि ॥
मकर उरग दादुर कमठ, जल-जीवन, जलगोह ।
तुलसी एकै मीनको है साँचिलो सनेह ॥

(दोहावली ३१७-१८)

जो परमेश्वरको जीवनका एकमात्र आधार बना ले और उसके बिना जीवन-धारण करनेमें ही असमर्थ हो जाय जैसे मछली जलके बिना जीवित नहीं रह सकती, तभी जगती-छन्दसे व्यंजित साधनाका उत्कृष्ट रूप सामने आ सकता है । इस मंत्रमें घट-घट-वासी अग्निरूप परमेश्वरसे ऐसी अन-

[देखिये कवर पृष्ठ ६]



☆

पूजा करते हुए वेदमूर्ति दर्शनी



☆

शक्तिमान् और शक्ति
श्री पंडितजी और सौ. सरस्वतीबाई (धर्मपत्नी)



श्री बाबानाराज जोशी (आर्चक)

अ मिय -- क ल श

[गीता पर मार्मिक विवेचन]

(लेखक— श्री वेदव्रत शर्मा)

[गताङ्कसे आगे]

ईश्वर तथा उसकी सभी शक्तियाँ एक रस सर्वत्र सर्वदा रहती हैं, जैसे आकाशमें शब्द। जीव अनन्त और असंख्य हैं परन्तु जातित्वेन एक हैं। अतः वे मानवयोनिमें जितने ईश्वरीय गुणोंको जितने अंशमें अपनेमें धारण कर लेते हैं, उतने गुणोंके वे अंश ही हो जाते हैं। जीव चेतन है और ईश्वर महतो महीयान् चेतन है। ईश्वर एक ही है परन्तु जीव संख्यामें अनन्त होते हुए भी एकत्व द्वित्व आदि संख्यामें आ जाते हैं। ईश्वर असीम शक्ति तथा गुणोंका अनन्त भण्डार है जीव रूपी बलबमें ही उसका विस्फुरण हो सकता है। जब जीवकी बहिरङ्ग वृत्तियाँ अंतरमुखी हो जाती हैं तो अनन्त शक्ति भण्डारसे योग हो जाता है और आत्मविकास होने लगता है। अतः जीव ईश्वरीय गुणोंको धारण करके ही ईश्वरका अंश हो सकता है। अखण्डमें अंशकी कोई सम्भावना नहीं की जा सकती। ईश्वर पूर्ण है अतः उसके गुण भी पूर्ण हैं। पूर्णमें कभी कमी नहीं हो सकती। अनन्त शक्ति भण्डारसे अनन्त बलब जल सकते हैं। सभी बलब न्यूनाधिक वाटके होते हैं। जीवकी बाह्य और अन्तरङ्ग वृत्ति जिस मेधा-बिन्दु पर एकाकार होती है वहीं पर चिदानन्द-धन भासने लगता है। अगर हम पांच वाटके बलब हैं तो राम और कृष्ण हजार वाटके बलब थे।

जीवका शरीरसे सम्बन्ध

(सत्यार्थ प्रकाशके नवें समुल्लाससे)

पांच कोश

अज्ञ-मय, प्राण-मय, मनोमय, विज्ञान-मय और आनन्द-मय ये पांच कोश हैं। प्रथम अज्ञ-मय कोश यह स्वचा से लेकर अस्थि-पर्यन्तका समुदाय पृथ्वी-मय है। दूसरा 'प्राण-मय-कोश' इसमें पांचों प्राण रहते हैं। तीसरा

'मनोमय-कोश' इसमें मनके साथ अहंकार तथा पांच कर्मेन्द्रियाँ रहती हैं। चौथा 'विज्ञान-मय' जिसमें बुद्धि, चित्त, और पांच ज्ञानेन्द्रियाँ रहती हैं। पांचवां 'आनन्दमय-कोश' इसमें प्रीति, प्रसन्नता, न्यून आनन्द, अधिक-आनन्द, और आधार कारण रूप प्रकृति है। ये पांच कोश कहलाते हैं।

तीन अथवा चार शरीर

प्रथम स्थूल शरीर जो यह दीखता है, दूसरा सूक्ष्मशरीर जिसमें पांच प्राण, पांच ज्ञानेन्द्रियाँ, पांच सूक्ष्म भूत, मन और बुद्धि कुल सत्तरह तत्त्वोंका समुदाय होता है। इसके दो भेद हैं, एक भौतिक; यह सूक्ष्म-भूतोंके अंशोंसे बना है; दूसरा स्वाभाविक जीवका गुण रूप है। यह दूसरा भौतिक शरीर मुक्तिमें भी रहता है। इसीसे जीव मुक्तिमें सुख भोगता है। तीसरा कारण, जिसमें सुषुप्ति अर्थात् गाढ निद्रा होती है वह प्रकृति स्वरूप होनेसे सर्वत्र विभु और सब जीवोंके लिए एक है। चौथा तुरीय शरीर वह कहलाता है जिसमें समाधिमें परमात्माके आनन्दस्वरूपमें जीव मग्न होते हैं। इसी समाधि संस्कार जन्य शुद्ध शरीरका पराक्रम मुक्तिमें भी यथावत् सहायक रहता है।

इतनी बातोंके समझनेके बाद हम इस सातवें श्लोकसे बारहवें श्लोक तकके अर्थोंको समझ सकते हैं। जिस प्रकार वायु पुष्प-गन्धिको लेकर स्थानान्तरपर पहुँचाता है उसीतरह जीवात्मा मन तथा पांच ज्ञानेन्द्रियोंको लेकर अयोग्य शरीरसे दूसरी शरीरमें प्रविष्ट होता है। निकलते हुए, शरीरमें स्थिर रहते हुए, गुणोंसे युक्त होकर भोग करते हुये जीवको मूर्ख लोग नहीं समझते। परन्तु ज्ञानी लोग इसकी स्थिति ज्ञान-नेत्रसे समझते हैं।

आत्मशक्तिका विस्तार

आदित्यमें जो तेज है, जिससे सारा संसार प्रकाशित होता है और जो तेज चन्द्रमा और अग्निमें दिखाई देता है वह ईश्वरका ही तेज है। पृथ्वीमें व्यापक होकर सभी प्राणियोंको धारण करता है। सभी औषधियोंमें ईश्वरकी सोम शक्ति ही विद्यमान है। ईश्वरकी शक्तिसे ही जठराग्नि प्राणियोंकी देहोंमें भोजन पकाती है। ईश्वर सभी प्राणियोंमें व्याप्त है। मानवके हृदय मन्दिरमें उसका साक्षात्कार होता है। ईश्वर जब जिसको जैसा फल देना चाहता है उसकी बुद्धि तथा स्मृतिको वैसा कर देता है। वेद तथा वेदान्तसे ईश्वर जाना जाता है।

दो पुरुष

ब्रह्माण्ड रूपी नगरमें सोनेवाला ईश्वर पुरुष कहलाता है और शरीर-रूपी नगरमें सोनेवाला जीव भी पुरुष कहलाता है। ब्रह्माण्डमें सोनेवाला पुरुष अजर, अमर है। परन्तु शरीरमें सोनेवाला जीव जन्मता और मरता है। वास्तवमें जीव भी अजर अमर है परन्तु शरीरके उत्पन्न तथा मरनेसे औपचारिक ढंगसे जीवका ही उत्पन्न होना और मरना कहा जाता है। जैसे हे दही ! से दहीवाला ही अपेक्षित है। वैसे जीव मर गयाका वास्तविक अर्थ शरीर नष्ट हो गया ही है। लोग कहते हैं कि मैं काला हूँ, मैं गोरा हूँ; परन्तु यह व्यवहार औपचारिक है। जो हो कुछ और व्यवहारमें आवे कुछ और वही उपचार है। इस प्रकार ईश्वर अक्षर और जीव क्षर है। परन्तु जीव भी अक्षर है क्योंकि वह शरीरसे भिन्न है।

इस प्रकार इन दोनोंमें जो श्रेष्ठ है वही परमात्मा कहा गया है। तीनों लोकोंमें व्याप्त होकर इनका भरण-पोषण वही करता है। जो कि ईश्वर अपने विशिष्ट गुण, कर्म, स्वभावसे जीव और प्रकृतिकी उत्तम व्यवस्था करता है अतः वह लोक और वेदमें पुरुषोत्तम नामसे प्रसिद्ध है। ज्ञानी लोग ईश्वरको जानकर सर्वभावसे उसे भजते हैं। इस प्रकार भगवान् कृष्णने इस रहस्यमय विषयको अर्जुनको हृदयङ्गम कराया।

संक्षेपमें यह जानना चाहिए कि संसार अश्रुत वृक्षके समान है। इसकी जड़ें ऊपरको हैं और शाखायें नीचेको हैं। इसी प्रकारका वृक्ष हमारा शरीर भी है। मैं देह हूँ, इस अहङ्कारकी भावना ही देहके मिलनेका कारण है। यही अविद्या है। अपने स्वरूपको भूलकर; अपना अध्यारोप

शरीरमें करना ही अविद्या है। इस अविद्या भावनासे किया हुआ कर्म बन्धनका कारण होता है। इस प्रकार पाप-पुण्यके अनुसार जीवकी दो गतियां होती हैं। ऊर्ध्वगति तथा अधोगति शास्त्रोंमें निर्दिष्ट हैं। स्वर्गको प्राप्त होकर भी पुनः संसारमें जन्म लेना पड़ता है। जीव जन्म-मरणके चक्करमें पड़कर दुःख भोगता रहता है। परन्तु जब गुरु-कृपासे अपनेको पहिचान लेता है तो देहसे अपनी सत्ता अलग समझने लगता है। अपने स्वभावको समझकर जीव धीरे धीरे शरीर तथा संसारसे असङ्गता रखता है और कर्म करता हुआ क्षीणपाप होकर ज्ञानके द्वारा अमरता प्राप्त करता।

इस संसारमें तीन सत्तायें अनादि हैं। जो कि ईश्वर, जीव तथा प्रकृतिके नामसे ख्यात हैं। प्रकृति और जीव क्षर यानी नश्वर माने जाते हैं ईश्वर अक्षर यानी अविनाशी है। जीव शरीरमें रहता है अतः पुरुष कहलाता है। ईश्वर प्राणि शरीरों तथा ब्रह्माण्डमें व्यापक है अतः वह पुरुषोत्तम है। वह ज्ञान बड़ा गूढ़ तथा विवेचनीय है। मनुष्य इस ज्ञानसे ही मुक्त हो जाता है।

॥ इति पञ्चदशोऽध्यायः ॥

× × ×

षोडशोऽध्यायः

दैवासुर सम्पद् विभाग

इस अध्यायमें देवों और असुरोंके सु और असु सम्बन्धी गुणों तथा दुर्गुणोंका वर्णन है। इस वर्णनका उद्देश्य है कि मनुष्य दैवी गुणोंका आचरण करे और आसुरी दुर्गुणोंको छोड़ दे। देवताओंके गुणोंको दैवी सम्पद् और असुरोंके दुर्गुणोंको आसुरी सम्पत्ति कहते हैं। आस्तिक ज्ञानी-विज्ञानी देव कहलाते हैं और नास्तिक कोरे वैज्ञानिक असुर कहलाते हैं। साधारण बुद्धिवाले असुरोंको श्रेष्ठ और देवोंको कनिष्ठ समझते हैं। यास्कमुनिने अपने निरुक्तमें देव शब्दकी विवेचना करते हुए इस शब्दके तीन मुख्य अर्थ बतलाये हैं। देवमें मुख्य गुण दान यानी परमार्थके लिये त्याग और दूसरा गुण देवोंका प्रकाशित होना, जहाँ रहे अपने ज्ञानसे प्रसिद्ध रहें; तीसरा गुण प्रकाश स्थान पर रहें अर्थात् ज्ञानी महात्माओंके समीप रहें। इन तीन गुणोंसे जो युक्त हैं वे देव कहलाते हैं। इसी भावको प्रकट करनेवाला सुर शब्द भी है।

यह शब्द सु-रसे बना है। सुका अर्थ शिव या शोभा, कल्याण और 'र' का अर्थ है दान और 'आदान' शिवत्व-का प्रदान करना और शिवत्वको अपनेमें धारण करना ही सुरत्व है। इस अर्थका उलटा भाव ही असुरत्व है। सुर असुर दोनों ही परमात्माकी सन्तान हैं। जो अपनी भलाईके साथ साथ दूसरेकी भलाई चाहे वह मनुष्य और जो अपनी भलाईकी भावनाको छोड़कर दूसरोंकी ही भलाई करता हो वह देव, जो दूसरेकी भलाईको नष्ट करके अपनी ही भलाई करता है वह असुर या राक्षस है। परन्तु इनसे भी आगे एक ऐसे हैं जो कि अपना भी तथा दूसरेका भी अहित करते हैं उन्हें ही अधम कहा गया है। उक्त लोगोंकी बनावट समान हैं परन्तु उनके कर्म ही असमान हैं।

अब इन्हीं दोनों सम्पत्तियोंकी विवेचना करनी है जिससे मनुष्योंके लिये सुपथ और कुपथका पृथक्त्व आभासित हो जाय। कि ईश्वर अपने ऊपर कोई उत्तरदायित्व नहीं लेना चाहता। वह तो सबसे निरपेक्ष रहना चाहता है।

दैवी पुरुष

प्रथम श्लोकसे लेकर तीसरे श्लोकतक दैवी पुरुषके गुण बताये गये हैं। अभय, सत्वसंशुद्धि, ज्ञान-योग व्यवस्थिति, दान, दम, यज्ञ, स्वाध्याय, आर्जव, अहिंसा, सत्य, अक्रोध, त्याग, शान्ति, अपैशुनता, दया, अलोभ, मार्दव, लज्जा, स्थिरत्व या एकाग्रता, तेज, क्षमा, धृति, शौच, अद्रोह, अतिमान, इन्हींको दैवी सम्पद कहते हैं। यहाँ सम्पदका अर्थ धन नहीं है। क्योंकि सम्+पत् इन शब्दोंके योगसे सम्पद शब्द बना है। सम्का अर्थ सम्यक्, अच्छी तरहसे, पत्का अर्थ गति करना है। अतः सम्पदका अर्थ हुआ समझ-बूझ कर आचरण करना।

इनमें यदि प्रत्येक गुणोंका विवेचन करें तो स्वतंत्र एक ग्रन्थ बन सकता है। मनुष्यको अभय यानी निर्भीक या वीर होना चाहिए। क्योंकि वसुन्धरा वीर-भोग्या है, जो कायर या भीरु प्रकृतिका व्यक्ति है उसे दासताका जीवन बिताना पड़ता है। वह इधर उधर दरबदर ठोकरें खाता फिरता है। अब सत्वसंशुद्धि पर विचार कीजिये; यह कितना महत्त्वपूर्ण शब्द है। सत्वका अर्थ सत्ता यानी भाव है; कुछ लोग सत्वका अर्थ चित्त भी करते हैं। अपना शुद्ध-स्वरूप समझना, या अपनी भावनायें, विचार शुद्ध करना ही सत्वसंशुद्धि है।

ज्ञान-योग-व्यवस्थिति इसका अर्थ कतिपय लोग ध्यानमें स्थिर रहना करते हैं परन्तु ज्ञानपूर्वक कर्मनिष्ठ होना ही ज्ञान-योग-व्यवस्थिति है। सत्पात्रमें अर्थ, विद्या, अभयता आदि-का दान देना ही दान है। दम कहते हैं इन्द्रियोंकी वासनाओंको मिटाना। यज्ञकी व्याख्या तो प्रथम ही कर चुके हैं। परोपकारार्थ स्वार्थ त्यागकर जन-सेवा करना ही यज्ञ है।

स्वयं किसी पवित्र-ग्रन्थका नियमित अध्ययन करना, इसको उपनिषदोंमें तप बताया गया है। स्वाध्याय और प्रवचनसे कभी प्रमाद नहीं करना चाहिए। आर्जवका अर्थ नम्रता है, झुकना यानी सुशीलता है। मनसा, वाचा, कर्मणा किसी प्राणीको कष्ट न देना या अपनी आत्माको दुःखी न करना ही अहिंसा है। सत्यका भी अर्थ मनसा, वाचा, कर्मणा सच्चाई बर्तना है। अक्रोधका अर्थ क्रोध न करना, क्योंकि क्रोधका वेग बुद्धिको नष्ट कर देता है। त्यागका अर्थ बलिदानकी भावना का स्वार्थको छोड़ना ही है। शान्तिका अर्थ उपद्रव रहित होना या तृप्ति ही है या मनकी चंचलता खत्म हो जाना भी शान्ति है या चित्तका अव्यग्र होना। अपैशुनताका अर्थ चुगली न करना। यह पैशुनता ही कलहकी जड़ है। अतः मनुष्यको चुगल खोरी नहीं करनी चाहिए। दया, अलोभ, मृदुता यानी कारुणिक होना, आत्म-तेज, अज्ञानियोंके दोषोंको माफ कर देना ही क्षमा है। दुःख और विपत्तिको सहन करते हुये न घबड़ाना ही धृति है। शौचका अर्थ पवित्रता है। जलसे शरीरादिकी स्वच्छता करना, मनकी शुद्धि सत्वव्यवहारासे करना, बुद्धिकी शुद्धि सत् ज्ञानसे करना, विद्या और तपके द्वारा आत्माकी शुद्धि करना शौच कहलाता है। वृत्ति यानी जीविकाकी शुद्धि भी शौच कहलाती है। परन्तु शौच शब्दके साथ यदि जाना शब्द जोड़ दें तो इसका अर्थ रुढ़ि हो जाता है जो कि मूल-त्यागके अर्थको बताता है। अद्रोहका अर्थ मित्रता और अतिमानताका अर्थ मानसे रहित होना।

आसुरी लोगोंका वर्णन

‘आसुरी सम्पदके लक्षण’

डींग और मद निष्ठुरता, क्रोध तथा दिखाव।

अरु अज्ञानहु पाण्डु सुत ! आसुरी पुरुष स्वभाव ॥ ४ ॥

दोनोंका फल

दैवी लक्षण मोक्ष हित, बंधन असुरि मतान।

शौच न दैवी स्वभावमें, अर्जुन तू जन्मान ॥ ५ ॥

सविस्तार आसुरी लोगोंका वर्णन

(सातवें श्लोकसे बीसवें तक)

असुर लोग यह नहीं जानते कि उन्हें किन किन कामोंमें प्रवृत्त होना चाहिये अथवा किन किन कामोंके करनेसे निवृत्त होना चाहिए। इनमें अपवित्रता, असत्यता, अनाचार बहुत होते हैं। ये लोग नास्तिक होते हैं, और कहते हैं कि संसार मिथ्या है, यह स्वयं चल रहा है इसका कर्ता कोई नहीं है। स्त्री तथा पुरुषोंके संयोगसे संसार चल रहा है। यह संसार कामका कौतुक है। इन्हीं विचारोंसे युक्त होकर ये अपनी सद्बुद्धि तथा सत् विचारको खो बैठते हैं। यहाँ तक कि आत्माको भी भौतिक मानते हैं। ऐसे उग्र यानी क्रूर कर्म करनेवाले संसारको नष्ट कर देते हैं, इन्हींको अपकारी भी कहा गया है।

असुर लोग असंख्य मनोरथ रखते हैं, जिनकी पूर्ति स्वप्न-में भी नहीं हो सकती है। ढोंग, मान और अहङ्कारसे भर-पूर रहते हैं। अज्ञानसे बुरे बुरे भावोंको धारण करते हैं और दूसरोंको धोखेबाजीसे ठगते हैं। अनन्त चिन्ताओंसे ग्रसित रहते हैं जिनका नाश प्रलयमें भी असंभव है। ये कामका उपभोग करना ही अपना परम-भाग्य समझते हैं। कामी और क्रोधी असुर जन हजारों आशाओंसे बंधे रहते हैं। विषयोंके भोगनेके लिये ही एक दूसरेको ठग कर धन-संचय करते हैं।

नास्तिक लोग रात दिन सोचा करते हैं कि मैंने आज इस इच्छाकी पूर्ति की और कल दूसरी इच्छा भी पूर्ण हो जायगी। इतना धन हमारे पास है और भविष्यमें इसका कई गुना हो जायगा। वे सोचते हैं कि आज मैंने इस शत्रुको मार डाला, कल दूसरेको नष्ट करूंगा। मैं ही ईश्वर हूँ, मैं भोग करने-वाला हूँ, मैं बड़ा विद्वान् एवं सिद्ध हूँ, इस प्रकारके अहं-कारसे मस्त रहते हैं। अपनेको धनाढ्य तथा कुलीन समझ कर अभिमान करते हैं। अपने तुल्य औरोंको नहीं समझते अर्थात् अपनेको अद्वितीय समझते हैं। ये लोगोंके सामने बह-कते हैं कि मैं खूब कमाता और खूब खर्च करता हूँ। ऐसा कह कर अपने भाग्य पर प्रसन्न होते हैं।

अनेकानेक कामनाओंमें अपने चित्तको घुमानेवाले और मोहके पाश और जालमें फँसे हुए कामनाओंके भोगमें प्रसक्त लोग दुःख पूर्ण तर्कको प्राप्त होते हैं। ये लोग अपने आपको ही बड़ा समझते हैं, धन घमण्डमें लीन रहते हैं, ढोंगपूर्वक

विधिरहित यज्ञको नाममात्र करके अपनेको सफल समझते हैं। काम, क्रोध, बल, की डींग मारते हुए नहीं थकते हैं अपने-को बहुत सुन्दर तथा दूसरोंको असुन्दर समझते हैं तथा आपसमें द्वेष करते हैं।

इन द्वैषी निन्दक अधम; जनको मैं जग माँहि ।

बार बार फेंकू अशुभ; आसुरि चोलो माँहि ॥ १९ ॥

जन्ममें जन्ममें मूढ़ जन, आसुरी चोले पांय ।

मुझे न पाकर ही पुनः अधम गति को जांय ॥ २० ॥

अन्तिम शिक्षा

काम, क्रोध तथा लोभ ये तीन घोर दुःखके कारण हैं। इन्हींके वशमें होकर मनुष्य क्रूरसे भी क्रूर और नीचसे भी नीच कर्म कर डालता है। ये तीनों विवेकको नष्ट कर देते हैं। ये आत्मिक शक्तिको बरबाद कर देते हैं। अतः इन तीनोंको छोड़ दो। जो मनुष्य इन घोर दुःखके कारणोंको जीत लेता है वही संसारका तथा अपना कल्याण कर सकता है ॥ २२-२३ ॥

शास्त्र विधी जो छोड़कर, करत कर्म मनमान ।

वह नहि सुख पावे, नहीं सिद्धि, न गती महान ॥ २४ ॥

इसलिये उचित, अनुचित, विधि, निषेधको समझनेके लिये आस्तिक बुद्धिसे शास्त्रोंको समझना चाहिए तथा उन्हींको प्रमाण मानकर कर्म करना चाहिए। और यदि कभी आपसमें वादविवाद उपस्थित हो तो उस समय शास्त्रों तथा आर्य-ग्रन्थोंकी शरण लेनी चाहिए। शास्त्रोंकी भी आर्ष व्याख्याओं द्वारा ही समझना चाहिए; नहीं तो लोगोंको शास्त्रोंमें भी विरोध दीखता है। शास्त्रोंके विधानोंको जानकर कर्म करना चाहिए, क्योंकि विधि रहित कर्म कभी भी समुचित फल नहीं दे सकता। परन्तु आज सम्प्रदायवादियोंने शास्त्रोंकी ऐसी जटिल व्याख्याएँ की हैं कि जिससे बड़े बड़े विद्वान् भी यथार्थका निर्णय नहीं कर पाते। कुछ साम्प्रदायिक धूर्तोंने ऋषियोंके नाम पर अवैदिक ग्रन्थ भी रच डाले हैं।

भगवान् कृष्णने इन दोनों प्रकारकी सम्प्रदायोंकी चर्चा क्यों की? इसका स्पष्ट उत्तर महाभारत ही दे सकता है। उस समयका वातावरण भी नास्तिकतापूर्ण था। नास्तिकोंने वेदमें भी झगडा या वाद उत्पन्न कर दिया था क्योंकि उन्होंने वैदिक मंत्रोंकी असद् व्याख्या करनी शुरू कर दी

थी। आज भी महीधरकी व्याख्या उक्त दोषोंको पुष्ट करती है। इसी बातको ध्यानमें रखते हुए कृष्णने वेद तथा शास्त्रोंकी मर्यादाकी स्थापना तथा पुष्टी की है। व्यासने तो इसी कार्यमें अपना जीवन बिता दिया। अतः हमें आज भी शास्त्रोंका अध्ययनाध्यापन करना चाहिए तथा उनके आदेशोंका आचरण करना चाहिए। दुःखसे कहना पड़ता है कि शास्त्रकी विमल ज्योति साम्प्रदायिकताकी कालिमामयी व्याख्याओंसे तेजहीन हो गई है। हमें इस कालिमाको धोना है तभी हम विहित-अविहित कर्मोंको समझ सकते हैं।

हमारे सामने दोनों प्रकारकी सम्प्रदायोंकी चर्चा की गई तथा उनके गुण-दोषों पर भी प्रकाश डाला गया। दोनों परिणामोंको भी स्पष्ट कर दिया गया। अब हमारा कर्तव्य होता है कि हम आत्म निरीक्षण करें। इस जीवन-क्षेत्रमें जो आसुरी कुवृक्ष उग आये हैं उनका उन्मूलन करें, नहीं तो वे अच्छे वृक्षोंकी वृद्धिको अपनी छायासे नष्ट कर देंगे। आगे हम एक बार फिर पढ़ें—

कृषी निरावहि चतुर किसाना ।
जिमि बुध तजहि मोहमदमाना ॥

॥ इति समाप्तोऽयं षोडशोऽध्यायः ॥

सप्तदशोऽध्यायः

श्रद्धा त्रय-विभाग योग

श्रद्धा शब्दका अर्थ प्रथम किया जा चुका है। मनसा, वाचा, कर्मण सत्यतापूर्वक किसीके आदेशोंसे प्रभावित होकर उसके प्रति पूज्य-भावना रखना या किसी उत्तम कार्यको ईश्वरका आदेश मानकर पूज्य-भावसे उसे सत्यता पूर्वक सम्पादित करना श्रद्धा कहलाती है। श्रद्धामें, सत्यकी भूमिपर हृदय और मस्तिष्कका समन्वयात्मक अवतरण होता है।

तर्क और श्रद्धा

सम्प्रदायोंके प्रभावमें आकर लोगोंने तर्ककी अप्रतिष्ठा की है। पौराणिक, ईसाई और मुसलमान तो तर्कको भयङ्कर समझ कर उसकी भर-पेट निन्दाही करते हैं। मनुने स्वयं अपनी मनुस्मृतिमें कहा है कि जो धर्म तर्ककी कसौटी

पर खरा उतर जाय वही धर्म है दूसरा नहीं। वेदके मंत्र भी बुद्धि-पूर्वक माने गये हैं। परन्तु सम्प्रदायवादियों तर्कका विरोधी हुआ ? यह विचारणीय है ? इसका मुख्य कारण है ज्ञानविहीन विश्वासकी प्रधानता और व्यक्ति पूजा। सभी सम्प्रदायोंमें सम्प्रदाय प्रवर्तकको ईश्वरका सा स्थान मिला है। ईसा ईश्वरके पुत्र ही थे, मुहम्मद साहब भी खुदाके साथ जुड गये, बुद्ध और महावीर ईश्वर ही मान लिये गये, शङ्कराचार्य भगवान् शंकरके अवतार ही माने गये। जब सम्प्रदाय प्रवर्तक ईश्वर हो गये तो ईश्वर विचारा गौण हो गया। सबोंने मिलकर उद्घोष किया। विश्वास करो और तर्कसे दूर हटो। वास्तवमें तर्क बुरी चीज नहीं है यूँ तो किसी भी वस्तुका दुरुपयोग बुरा है। तलवार बुरी नहीं अपितु इसका दुरुपयोग बुरा है जो कि कर्तापर निर्भर है। इसी विषयको वेद रहस्यमें श्री नारायण स्वामी महाराजने भी लिखा है; जो आगे निर्दिष्ट है।

जब मनुष्य तर्कको छोड़कर केवल श्रद्धाका आश्रय लेता है तो अन्ध-विश्वासी बन जाता है। इसी प्रकार जब मनुष्य श्रद्धाको छोड़कर केवल तर्कका आश्रय लेता है तो कुतर्की हो जाता है। इस प्रकार अन्धविश्वासी और कुतर्की दोनों अपने लक्ष्यसे दूर रहते हैं। दोनोंकी अपनी अपनी सीमा है। इन्हें अपनी अपनी सीमामें ही रहना चाहिए।

तर्क और श्रद्धाकी सीमा

याज्ञवल्क्यने अपनी विदुषी स्त्री मैत्रेयीको आत्मज्ञानकी शिक्षा देते हुये बतलाया कि आत्माको साक्षात्करनेके लिए तीन प्रधान साधन हैं। जो श्रवण और दर्शन; मनन और निदिध्यासन कहे जाते हैं। श्रवण और दर्शनका अभिप्राय है कि इन्द्रियोंसे काम लेकर देखे और सुने हुये जगत्का यथार्थ ज्ञान प्राप्त करें, मिथ्या ज्ञानी न रहे। दूसरा साधन मनन है; मनन अर्थात् तर्कसे काम लेकर इन्द्रियोंकी पहुँचसे परे जगत्का चिंतन करें और उसका भी यथा संभव यथार्थ ज्ञान प्राप्त करें। तीसरा साधन है निदिध्यासन, प्रथम और दूसरे साधन-के द्वारा प्राप्त ज्ञानको आत्मा द्वारा धारण कर लेना। इसीका नाम श्रद्धा और विश्वास है। इन्द्रियोंके कामकी सीमा इन्द्रियानुभूत जगत् तक रहती है। तर्ककी सीमा मन्तव्य जगत् तक सीमित होती है उसके बाद निदिध्यासन यानी अनुभव कर लेना अथवा स्वाद चख लेना आत्माका काम बाकी रह

जाता है तर्कका काम मनन करने तक सीमित है, जब उसे आत्माके कामकी सीमामें प्रविष्ट करते हैं तब वह तर्क न रह कर कृतर्क हो जाता है और मनुष्यको श्रद्धा विश्वास आदि निदिध्यासनके कामोंसे वंचित कर देता है। यह बात और भी अन्तःकरणोंके कामों पर दृष्टि डालनेसे साफ हो जाती है।

अन्तःकरणोंका काम

इच्छाशक्ति सहस्रदलमें मस्तिष्कके ठीक ऊपर रहती है और वहींसे काम करती है। शक्तिके नीचे, परन्तु मस्तिष्कके ऊपर ही 'मेधाबुद्धि' है। उससे नीचे मस्तिष्कके मध्यमें 'तार्किक बुद्धि' रहती है। मस्तिष्कका निचला भाग मन सम्बन्धित-सन्देश तन्तुओंका स्थान है। वक्षमें हृदयसे ठीक ऊपर 'मन' [इन्द्रियोंके नियन्ता] का स्थान है।

हृदय और नाभिके बीचमें 'चित्त' रहता है। इसके नीचे सूक्ष्म-प्राण रहते हैं। इच्छाशक्ति इन अन्तःकरणोंके द्वारा काम करती है। वह बुद्धिके द्वारा ज्ञान और (तर्क पूर्ण विचार) विचार, मनके द्वारा इन्द्रिय व्यापार, चित्तके द्वारा भावुकता और प्राण-द्वारा भोगके लिये काम करती है। जब प्रत्येक अन्तःकरणका काम ठीक चलता है तब इच्छा शक्तिके काममें बाधा न पड़नेसे शक्तिका विकास और वृद्धि होती है। इच्छाशक्ति विद्युत् अथवा गतिशक्ति है।

(वेदरहस्य ९३ से ९७ पृष्ठ तक)।

वेद और श्रद्धा

ऋग्वेदका श्रद्धा सूक्त (१०।१५१।१से ५ तक)

श्रद्धासे अग्नि प्रज्वलित की जाती है, श्रद्धासे हवि द्वारा हवन किया जाता है। ऐश्वर्यके शिखर श्रद्धाकी वेदवाणी प्रशंसा करती है। हे श्रद्धे ! दान देनेवालेका प्रिय कर, श्रद्धे ! देनेकी इच्छा करनेवालेका प्रिय कर, भोग और यज्ञ करने-वालोंका प्रिय कर। यह मेरा वाक्य पूरा कर। जैसे देव प्राण बर्पण करनेवालोंमें श्रद्धा करते हैं; इसी प्रकार भोग और यज्ञ करनेवालोंमें हम सबको प्रकाशित कर। दिव्य यजमान श्रद्धा-से योगीकी उपासना करते हैं। हृदयके उच्च भावसे श्रद्धा प्राप्त होती है। श्रद्धासे धन प्राप्त होता है। अतः हम प्रातः-काल श्रद्धाको पुकारते हैं, सायंकाल भी श्रद्धाका आवाहन करते हैं। श्रद्धा-स्वरूप परमेश्वर ! हम सबको श्रद्धासे युक्त करो।

श्रद्धाके भेद

मनुष्य श्रद्धा-मय है; जो श्रद्धा भोजन, यज्ञ, तप, दान और भक्ति पर निर्भर रहती है। यह सतोगुण, रजोगुण और तमोगुणके विचारसे तीन प्रकारकी होती है। सात्विक, राजसी और तामसी श्रद्धा कहलाती है। इन्हींका यहाँ वर्णन है। मनुष्यके मनमें पूर्व जन्मके संस्कार निहित रहते हैं। उन्हीं संस्कारोंके अनुसार मनुष्योंकी प्रवृत्तियाँ बनती हैं। जैसी प्रवृत्ति होती है वैसा ही मनुष्य भोजन करता है। मनुष्य जैसा भोजन करता है उसीके अनुसार उसकी बुद्धि बनती है इसी बुद्धिको ही गीतामें सत्य कहा गया है। इस प्रकार बुद्धि भी तीन प्रकारकी होती है। जिसकी बुद्धि सतोगुणी होती है उसकी श्रद्धा भी सतोगुणी होती है। इसी प्रकार अन्य श्रद्धाओंके विषयमें समझना चाहिए। जीव इन श्रद्धाओंसे युक्त रहता है जिसकी जैसी श्रद्धा होती है वह वैसा हो जाता है यानी सतोगुणी, रजोगुणी और तमोगुणी हो जाता है।

सात्विक श्रद्धावाले देवोंकी (माता, पिता, आचार्य, अतिथि, ईश्वरादिकी) पूजा यज्ञ द्वारा करते हैं। राजसी श्रद्धावाले धनिक यक्षों (चालाकों) की पूजा करते हैं। और तामसी श्रद्धावाले अज्ञानवश पञ्च भूतों और प्रेतोंकी पूजा करते हैं।

इस प्रकार तप भी तीन प्रकारके होते हैं। जो लोग योग-शास्त्रके प्रतिकूल घोर तप करते हैं जो कि दम्भ, अहंकार, काम, रागसे युक्त होते हैं। ये लोग भौतिक शरीरको व्यर्थ ही क्षीण करते हैं। अज्ञान वश अपनी आत्माको भी कष्ट देते हैं। इनके इस कुकर्मको देखकर ईश्वर भी रुष्ट और दुःखी होता है ऐसे लोग आसुरी बुद्धिके हैं। इस प्रकार भोजन, दान, यज्ञ भी तीन प्रकारके होते हैं।

सतोगुणी भोजन

स्वास्थ्य, आयु, बल, बुद्धि, सुख, प्रीति बढावन हार।
गिरी, अन्न, चिकनई, फल, प्रिय सतगुणहिं आहार ॥८॥

रजोगुणी भोजन

अम्ल, तीक्ष्ण, कडु, चरपरा रुक्ष गर्म अति क्षार।
रोग शोक चिन्ता जनक, प्रिय रज गुणहिं आहार ॥ ९ ॥

तमोगुणी भोजन

निरस पहर भरका पका, बिगडहू, जो बूदार।
जूठा भी, गन्दा तथा, प्रिय तमगुणी आहार ॥ १० ॥

महाभारत कालमें इतने कुत्सित जीविकाके साधन नहीं थे जितने कि आज हैं। घूसखोरी, डाकाजनी, व्यभिचार द्वारा धन कमाना, राष्ट्रीय-धनको अपने स्वार्थमें खर्च करना तथा उनका दुरुपयोग करना आदि ऐसी वृत्तियाँ हैं जिनका परिणाम विनाशकारी ही है। आज राष्ट्री अपार सम्पत्ति शराब, कबाब और फैशनमें उड रही है। ऐसा इसलिये हो रहा कि लोग आसुरी प्रकृतिके हो गये हैं।

यज्ञका वर्णन

जो परोपकार तथा सेवादिके कार्य और यज्ञकी फलाशको छोड़कर किये जाते हैं वे कार्य तथा यज्ञ सात्विक होते हैं। और जो उक्त कार्य और यज्ञ फलाशको मनमें रखकर तथा दम्भ-पूर्व किये जाते हैं वे राजसी कर्म और यज्ञ कहलाते हैं। इसी प्रकार यज्ञादि शास्त्र-विधि रहित बिना मंत्रके श्रद्धा रहित किये जाते हैं वे यज्ञ तामसी कहलाते हैं।

तपका वर्णन

कायिक, वाचिक और मानसिक ये तीन प्रकारके तप होते हैं। पूज्योंका सम्मान और उनकी सेवा तथा भक्ति करना, पवित्रता, नम्रता, ब्रह्मचर्यका पालन अर्थात् इन्द्रिय-संयम, और अहिंसाका आचरण करना शारीरिक तप कहलाता है। इसी प्रकार प्रिय और हितकर वचन बोलना, शास्त्रोंका पठन-पाठन और सत्यका बोलना वाणीका तप कहलाता है। इसी प्रकार मनको प्रसन्न रखना; सौम्यता तथा सुशीलताका व्यवहार करना, मौन धारण करना, इन्द्रियोंको जीतना, विचारोंको पवित्र रखना आदि मानसिक तप कहलाता है।

१७ वें से १९ वें श्लोक तक उसी तपका पुनः निरूपण किया गया है। परम श्रद्धासे युक्त होकर फलाशको त्याग कर जो मनुष्य इन तीनों प्रकारके तपोंको करते हैं वे तपस्वी सात्विक कहलाते हैं। और जो तप सत्कार और पूजा पानेके लिये बनावटी रूपसे किया जाता है वह क्षणिक होता है, उसे राजसी तप कहते हैं। और जो तप अज्ञान और हठ पूर्वक किया जाता है और स्वयं दुःखदायी होता है उसे तामसी तप कहते हैं।

दानका वर्णन

दान भी तीन प्रकारके होते हैं। जो न पानेकी भावनासे अपना कर्तव्य समझ कर दूसरेके सुखके लिये सत्पात्रमें दिया जाता है उसे सात्विक दान कहते हैं। कदाँ, कब और किसको

देना चाहिए इस विचारसे जो दिया जाता उसे सात्विक दान कहते हैं। जो पुनः वापस पानेकी आशासे अपनेको कष्ट उठाकर दिया जाता है उसे राजसी दान कहते हैं। बिना देश, काल और पात्रका विचार किये अनादरपूर्वक जो दिया जाता है उसे तामसी दान कहते हैं।

ईश्वर नामका वर्णन

गुण, कर्म, स्वभावानुसार ईश्वरके अनन्त नाम हैं परन्तु सब नामोंमें महत्त्वपूर्ण नाम ईश्वरका 'ओ३म्' है। अन्धधुतसे मन् प्रत्यय लगानेपर यह ओम् शब्द बनता है। अन्धधुतके लगभग उन्नीस अर्थ होते हैं। उपनिषदोंमें ओ३म् को ही उद्गीथ तथा प्रणव भी कहा गया है। ओ३म् का उच्चारण करके संकल्प तथा मंत्रादि पढ़े जाते हैं। वेद-मंत्रोंके आदिमें अब भी ओ३म्का उच्चारण होता है। जितने भी शुभ कार्य हैं उन सबका प्रारम्भ ओ३म् नामके साथ होता है क्योंकि ज्ञानियोंने ऐसा ही विधान बना रखा है। ज्ञानी लोग 'ओ३म् तत् सत्' शब्दको संकल्पके पूर्व तीन बार पढ़ते हैं तब यज्ञादि शुभ कार्योंका प्रारम्भ कराते हैं। सत् शब्दका व्यवहार सच्चे और हितकर भावके निमित्त किया जाता है। तत्; वह ईश्वर ही सत् है और अन्य सब वस्तु नश्वर हैं। जो काम श्रद्धा भक्तिसे ईशनिमित्त किया जाता है वह सत् है जो काम बिना श्रद्धा भक्तिसे अपने निमित्त किया जाता है वह असत् है।

॥ इति सप्तदशोऽध्यायः ॥

+ + +

अष्टादशोऽध्यायः

संन्यास-योग

गीता सार

अर्जुनने कृष्णसे कहा कि मैं त्याग और संन्यासका अलग अलग तत्त्व जानना चाहता हूँ, कृपया आप मुझे समझावें। कृष्ण भगवान् अर्जुनको समझाते हुये कहते हैं कि काम्य कर्मोंका त्याग ही लोग संन्यास बताते हैं। परन्तु ज्ञानी लोग सभी प्रकारके कर्मोंके फलोंको परार्थके लिए दान कर देना ही त्याग बताते हैं क्योंकि दान और त्याग दोनों समानार्थक शब्द हैं। कुछ विद्वान् संन्यासके विधानमें दोषोंकी तरह

कर्मोंको भी त्यागनेका विधान करते हैं। इस पर कृष्ण भगवान् कहते हैं कि; यज्ञ, दान और तपको अन्य लोग कभी भी त्याग्य नहीं समझते। कर्म-त्यागके विषयमें उस समय दो मत थे एक कर्मोंके त्यागका विधान करता था और दूसरा कर्मों करनेकी व्यवस्था करता हुआ कर्म-फलके त्यागनेकी राय देता था। कृष्ण भगवान् दूसरे मतके समर्थक थे।

त्याग भी सात्विक, राजसी और तामसी तीन प्रकारका कहा गया है। परन्तु यज्ञ, दान और तप इनको कभी भी नहीं छोड़ना चाहिए; क्योंकि इनके द्वारा ज्ञानियोंके कर्मोंकी एवं आत्माकी शुद्धि होती है। यज्ञका अर्थ बलिदान और दीनोंकी सेवा, दानका अर्थ परहितार्थ त्याग और तपका अर्थ इन दोनों कार्योंके सम्पादनमें जो कष्ट होता है उसका सहन करना या इन कर्मोंकी उग्र क्रिया ही तप है। परन्तु यज्ञ, दान और तप भी अनासक्तिके भावसे ही करने चाहिए।

त्यागके भी तीन भेद

वेद-विहित एवं शास्त्र-प्रतिपादित कर्मोंका त्याग सर्वथा अनुचित है परन्तु यदि कोई मोहवश त्याग ही देता है तो वह त्याग तामसी होगा। शास्त्रविहित कर्म करना दुःखप्रद है, इससे शरीरको कष्ट होगा, ऐसा समझ कर जो काम करना छोड़ देता है यह त्याग राजसी होता है, परन्तु अपना कर्तव्य समझ कर जो शास्त्र-विहित कर्मोंको करता है। निर्लिप्त होकर कर्म-फलको परार्थके लिए अर्पण कर देता है वह त्याग सात्विक होता है।

सबको मृत्युके पश्चात् तीन प्रकारके कर्मोंका फल भोगना पड़ता है अप्रिय-फल जो जीवनको अनिच्छासे भोगने पड़ते हैं, प्रिय-फल जिनको जीव खुशीसे भोगता है। कुछ कर्म-फल इष्ट-अनिष्ट अर्थात् मिश्रित होते हैं। परन्तु जो संन्यासी यानी सात्विक-त्यागी हैं उन्हें कर्म-फलोंको भोगना नहीं पड़ता है और न पैदा ही होना पड़ता है।

कर्म-सिद्धिके पांच साधन

अधिष्ठान ज्ञान करण-इन्द्रियाँ; कर्ता-जीव; विविध चेष्टायें या इच्छायें; दैव-भाग्य तथा पूर्ण जन्मके संस्कार विशेष। अधिष्ठानका अर्थ शरीर नहीं हो सकता; क्योंकि कर्मके सम्पादनमें ज्ञानकी ही प्राथमिकता होती है। दैवका अर्थ भाग्य तथा ईश्वर दोनों होता है। क्योंकि दैवका निर्माता जीव

स्वयं है पर फल भोगनेमें पराधीन है। कुछ लोग दैवका अर्थ दैवी शक्तियाँ लेते हैं परन्तु भाग्यानुसार ही दैवी शक्तियाँ मिलती हैं।

इन पाँचों कारणोंके होते हुये भी लोग अहंकार वश अपनेको ही कर्ता समझते हैं। ऐसा समझनेका कारण मानवका अज्ञान ही है। जो ईशादेश मान कर कर्म करता है या परार्थ कर्म करता है तथा अपनेको कर्ता नहीं समझता, वह इस संसारको मार कर भी पापसे नहीं बंधता है। ज्ञान और ज्ञेय (जिसको जानना है) परिज्ञाता (जाननेवाला) तीन अध्यात्म कर्मके प्रेरक होते हैं। इसी प्रकार कर्ता, कारण और कर्म या कर्तव्यके मिलनेसे कर्म बनता है। अब आगे चल कर इन्हीं तीनोंका निरूपण करेंगे। हे अर्जुन ! इसे ध्यानसे सुनो और गुनो। इन्हींका वर्णन सांख्य भी करता है इनके समझनेमें ही कल्याण है।

ज्ञानका निरूपण

सभी पदार्थों और प्राणियोंमें ईश्वरको सर्व-व्यापक समझना ही ज्ञान है। अलग अलग पदार्थोंमें भी वही अव्यय या अविकारी सत्ता है। यही ज्ञान सात्विक है। परन्तु अलग अलग पदार्थोंमें पृथक् पृथक् सत्तायें समझना राजसी ज्ञान है। जैसे 'लकड़ियाँ खाना पकाती हैं, हे दही ! यहाँ आवो' इत्यादि वाक्योंमें उपचार है क्योंकि खाना भण्डारी पकाता है। दहीवाला आयेगा, दही नहीं। इसी तरह सूर्य प्रकाश देता है, पृथ्वी धारण करती है। यहाँ सूर्य और पृथ्वीमें कर्तृत्वकी भावना औपचारिक है क्योंकि सूर्य और पृथ्वीमें एक सत्ता है जो इनसे काम लेती है परन्तु वह इन दोनोंसे व्यतिरिक्त है। इसी प्रकार राजसी ज्ञानवाले कहते हैं कि हम गोरे हैं, हम कुरूप हैं इत्यादि बातें अज्ञानके कारण उसमें (शरीरमें) तादात्म्य स्थापित करनेसे होती हैं। और जो अपनी अज्ञानताके कारण किसी भौतिक पदार्थको ईश्वरके स्थानमें पूजने लगता उसे तामस ज्ञान कहते हैं।

कर्म-निरूपण

वैदिक और शास्त्रीय कर्म जो कि विना राग-द्वेषसे अनासक्त होकर किये जाते हैं और कर्म-फलोंमें परार्थ यानी त्याग भावना होती है वे कर्म सात्विक कहलाते हैं। जो कर्म काम-भावनासे अहंकार युक्त होकर किये जाते हैं

और जिसके करनेमें बहुत परिश्रम करना पड़ता है वह राजस कर्म कहलाता है । जिसका परिणाम भविष्यमें बुरा हो, जिस कामके करनेसे हानियाँ हो, हिंसा और बलका उसके सम्पादनमें प्रयोग करना पड़े, जो कर्म मोह और अज्ञानतासे किया जाता है उसे तामस कर्म कहते हैं ।

कर्ता-निरूपण

कर्ता भी तीन प्रकारके होते हैं । अहंकार-रहित धैर्य और उत्साहसे युक्त होकर पदार्थकी भावनासे सिद्धि तथा अस्ति-द्धिमें सम होकर जो कर्म कर्ता है वह सात्विक कर्ता है । कल्पित भावना । युक्त होकर स्वार्थके वशमें आकर लोभी और शोकयुक्त होकर जो काम करता है वह राजसी कर्ता है । जो व्यक्ति अयोग्य तथा बालसी होकर अपकारकी भावनामें आकर, खिन्न भावसे युक्त होकर देरमें काम करता है उसे तामसी कर्ता कहते हैं । इसी प्रकार बुद्धिके भी तीन भेद होते हैं । जिसका वर्णन आगे किया जावेगा ।

बुद्धि-निरूपण

जिस बुद्धिके द्वारा शुभ कर्मोंमें प्रवृत्ति (लगाव) तथा बुरे कर्मोंसे निवृत्ति (विलगाव) हो, उचित-अनुचित कर्मोंका निश्चय हो तथा यह जाना जाय कि इस कामके करनेसे बन्धन होगा, इस कामके करनेसे मोक्ष या मुक्ति होगी; उस बुद्धिको सात्विक बुद्धि जानें । जो बुद्धि इसके प्रति-कूल हो उसे राजसी कहते हैं । और जो अधर्मको धर्म समझती है तथा सभी प्रयोजनोंको विपरीत समझती है उसे तामसी बुद्धि कहते हैं ।

धृति या धैर्य

जिस धैर्यके द्वारा मनुष्य अपने मन तथा इन्द्रियोंको वश करके कार्य सम्पादन करता है तथा जिसमें निश्चलता और समताका भाव रहता है वह सात्विक धैर्य कहलाता है । जो जिससे धर्म, अर्थ और काम स्वार्थभावसे सम्पादित किये जाते हैं वह एतद् राजसी कहलाती है । जिसके द्वारा निद्रा, लोभ, भय, शोक, मद तथा विषाद आत्मा नहीं छोड़ती, उसे तामसी धृति कहते हैं ।

तीन प्रकारके सुख

जो पहिले विषयुक्त हो, फलमें सुधा समान ।

रमते जहाँ स्वभावसे, अरु क्षय दुःखका होय ॥ ३६ ॥

विषय इन्द्रियके मिलन जो, पहिले सुधा समान ।

फलमें विषके तुल्य वह, राजससुख कहलाय ॥ ३७ ॥

पहिले अरु पीछे भी जो, सुख मनको लोभाय ।

नीद प्रसाद आलस जनित, वह तामस कहलाय ॥ ३८ ॥

वर्ण-धर्म

गीता चारों वर्णोंको गुण, कर्म तथा स्वभावसे मानती है । क्षमा, नम्रता, शम, दम, तप, शुद्धता, ज्ञान, विज्ञान, आस्तिकता ब्राह्मणोंके स्वाभाविक कर्म हैं । रणसे न भागना, शूरता, तेज, धैर्य, पराक्रम, दान और शासनका भाव क्षत्रियोंके स्वाभाविक कर्म हैं । खेती, गोपालन, व्यापार, लेनेदेन, वैश्योंके स्वाभाविक कर्म हैं । तीनों वर्णोंकी सेवा शूद्रके स्वाभाविक कर्म हैं । अपने-अपने वर्ण-धर्मोंके अनुसार ईश्वरकी पूजा करना उत्तम है । अगर अपने स्वाभाविक धर्मके सम्पादनमें दोष भी दिखाई पड़े तो उसे नहीं छोड़ना चाहिए । जैसे शूद्रका स्वाभाविक धर्म तीनों वर्णोंकी सेवा करना है यदि वृत्तिमें दोषका भाव हो तब भी नहीं छोड़ना चाहिए ।

ब्रह्मप्राप्तिके साधन

ब्रह्मकी प्राप्ति ही मानवका प्रमुख ध्येय है । विशुद्ध बुद्धिसे युक्त होकर धैर्यके द्वारा मनको संयमित करके राग-द्वेष तथा इन्द्रियोंके विषयोंको त्याग कर एकान्तवासी बने । सूक्ष्म-भोजन करता हुआ अपने मन तथा शरीरको वशमें करके नित्य ईश्वरका ध्यान करे । इस प्रकार अहंकार, बल, अभिमान, काम, क्रोधको छोड़कर और अपरिग्रही अर्थात् स्वल्प-संचय होवे । इस प्रकार शान्तचित्त होकर ईश्वरको प्राप्त करे ।

पराभक्तिकी प्राप्ति

जो व्यक्ति अपनेको ईश्वरीय आनन्दका आस्वादक बना लेता है, वह सर्वदा प्रसन्न रहता है, न शोकानुर होता है और न कुछ चाहता है । सभी प्राणियोंके साथ समान तथा यथायोग्य आचरण करता है ऐसा ही साधक ईश्वरकी पराभक्तिका अधिकारी होता है । ब्रह्म-भूतका अर्थ ब्रह्म होकर नहीं अपितु ब्रह्मवित् ब्रह्मवत् हो जाता है । इसी भक्तिके द्वारा साधक ईश्वरको जानता है । सभी लौकिक कार्योंका सम्पादन करता हुआ भी ईश्वरका आश्रय लेता है, ईश्वरकी कृपाका पात्र होकर उसके परमधामको प्राप्त करता है । सभी शुभ कर्मोंको सुचितसे ईशार्पण करके ईश्वरानुसार हो जाता

है। इस प्रकार अर्जुनके लिए भगवान् उपदेश करते हुये कहते हैं कि तुम हमारी तरह पवित्र चित्तवाले हो जाओ, तुम सभी कठिनाइयोंको हमारी कृपासे पार कर जाओगे। यदि अहंकारवश ऐसा नहीं करोगे तो तुम बरबाद हो जाओगे।

अगर तुम अहंकार-वश यह कहोगे कि तुम नहीं लडोगे तो यह कहना तुम्हारा बेकार है। क्योंकि तुम्हारा स्वभाव ही तुम्हें लडनेके लिए विवश करेगा। तुम अपने स्वाभाविक कर्मसे बंधे हुए हो। अगर करना नहीं भी चाहोगे तो तुम्हें करना पडेगा। ईश्वर सभी प्राणियोंके हृदयोंमें रहता है। हृदय हीमें क्यों कहा? हृदय ही एक ऐसा स्थान (देश) है जहाँ ज्ञेय और ज्ञाता दोनों साथ रहते हैं, अन्यत्र ज्ञेता और ज्ञेय एक साथ नहीं रहते, ईश्वर अपनी नियामक शक्तिसे सभी प्राणियोंको अपनी व्यवस्थामें रखता है, जैसे कठपुतली नचानेवाला यान्त्रिक सभी कठपुतलियोंमें जैसा चाहता है वैसे ही नचाता है। परन्तु यहाँ प्रश्न यह उठता है कि जब जीव कठपुतलीकी तरह पराधीन है और उसमें स्वतन्त्र कर्तृत्व-शक्ति नहीं है वह ईश्वरके हाथमें है, तो कर्म-फलके भोगनेका जीवपर उत्तरदायित्व क्यों रखा जाता है? जीवकर्म करनेमें स्वतंत्र है परन्तु उसकी स्वतंत्रता उसके भाग्यकी अपेक्षा रखती है। ईश्वर तो जीवके कृतकर्मकी फल-प्रदायित्व शक्ति ही अपने हाथोंमें रखता है; जीवके कर्तृत्व स्वातन्त्र्यमें हस्त-क्षेप नहीं करता है। केवल एक ही भाग्यकी डोर अपने हाथोंमें रखता है अतः वह अपने नियन्त्रणसे सबको नियमित चलाता है। ईश्वरकी नियन्त्रित्व शक्ति ही उसकी माया है। इसी शक्तिके द्वारा सूर्य और चन्द्र अपने अपने कक्षमें घूमते हैं। अतः ईश्वरके ऊपर अन्यायका आरोप नहीं किया जा सकता है कि ईश्वर जैसा चाहता है वैसे ही कराता है, जीव तो नौकरकी तरह है। यदि ऐसा होता, भोक्तृत्वका उत्तरदायित्व भी ईश्वरके ऊपर मडा जाता, परन्तु ऐसा नहीं देखा जाता, भोक्तृत्वका भागी जीव ही देखा जाता है। अतः मनुष्य! सर्वतो भावेन यानी सभी सांसारिक सहा-रोंका भरोसा छोडकर ईश्वरकी शरणमें जाओ, उसीकी कृपासे अमृतत्व तथा परमानन्द प्राप्त कर सकोगे, अन्यथा नहीं। कृष्णभगवान् अन्तमें कहते हैं कि 'तुम्हें जो कुछ करना है करो; हम सब कुछ तुम्हें समझा चुके 'विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु' सब कुछ सोचकर जैसा चाहो वैसा

करो। यहाँ जीवकी स्वतन्त्र कर्तृत्वशक्तिका समर्थन है जैसा कि स्वामी दयानन्दजीने अपने सत्यार्थप्रकाशमें लिखा है कि जीव-कर्म करनेमें स्वतंत्र है परन्तु फल-भोगनेमें पर-तन्त्र है।

तुमको मैं (कृष्ण) चाहता हूँ। अतः रहस्य-मय बातें तुमसे पुनः कहता हूँ। मेरे अनुकूल विचारक हो जाओ, मेरे सद्गुणोंका आचरण करो; मेरी संगति करो अतः मेरा सम्मान करो। तुम (अर्जुन) मेरी ही तरह संसारमें उच्च-पद प्राप्त करोगे। मैं (कृष्ण) ऐसा इस लिये चाहता हूँ कि तुम मेरे प्रिय-भक्त हो। संसारमें भक्त भगवान्का ही आश्रय लेता है। परन्तु जब तक वह सांसारिक आश्रयोंको नहीं छोडता तबतक उसे ईश्वरकी शरण नहीं मिलती। जैसे तैरनेकी कला सीखनेवाला जब तक अपना सारा भार पानी पर ही नहीं छोड देता तब तक तैरना नहीं सीख सकता है उसी तरह कृष्ण भी अर्जुनसे कहते हैं कि सभी प्रकारके सांसारिक आश्रमोंको (धर्मोंको) छोडकर ईश्वरकी शरणमें आ जाओ। ईश्वर तुम्हें सभी प्रकारके बुरे कर्मोंसे छुडा देगा। कृष्ण पापके कर्मोंसे मुक्त करनेको कहते हैं न कि पाप कर्मोंके फलोंसे मुक्त करनेको कहते हैं।

अर्जुनको शंका थी कि इनको मारनेसे हमें पाप लगेगा; अतः लडना अच्छा नहीं। परन्तु कृष्णने योग-सिद्धियोंसे सिद्ध कर दिया कि ये अधर्म पर चलते हैं, आततायी हैं इनको ईश्वरने स्वयं मार दिया है। सर्व धर्मोंके छोडनेका अभिप्राय यह है कि प्रायः लोगोंमें अहङ्कार रहता है कि हमने धर्मके बलसे यह काम कर लिया। ये लोग ईश्वरके उपकारोंको भूल कर अपने पुण्य पर गर्व करते हैं, गर्व भक्तिके लिये बहुत बुरा है, अतः कृष्णने कहा कि अपने शुभ कर्मोंमें अपना कर्तृत्व मान कर अपने पुण्य पर अहंकार न करो, उसको छोड दो। जब कृष्णने धर्मकी रक्षाके लिये ही जन्म लिया तो कैसे कहेंगे कि सब धर्मोंको छोड दो 'सर्वधर्मान् परित्यज्य' का तात्पर्य है कि अज्ञानवश जीव शारीरिक धर्मोंको अपना धर्म समझने लगता है। आत्मोन्नति होने पर ये भावनायें छोडनी पडती हैं। आत्मिक उन्नति तभी हो सकती है जब कि मनुष्य अपने को देह न समझे, न देहसे तादात्म्य स्थापित करे वरन् अपने को देहवाला, देही, देहका आधार मैं (जीव) समझे, जिसे कोई काट नहीं सकता है न कोई जला या नष्ट कर सकता

है। ऐसी आध्यात्मिक दशामें 'मैं करता हूँ, मैं अच्छा हूँ, मैं नाटा हूँ, मैं गोरा हूँ, मैं कोढ़ी हूँ, मुझे भूख लगी है, मुझे प्यास लगी है, मैं सुनता हूँ, इत्यादि शारीरिक धर्मोंको अपनेमें (आत्मामें) आरोप करना छोड़ दो। और दैवी गुणोंको अपना गुण समझो, इन्हीं दैवी गुणोंकी शरण लो। बाह्य-करण इन्द्रियोंके धर्मोंको छोड़कर, आत्माको दर्शके अन्तःकरणोंके धर्मोंका आश्रयण करो, क्योंकि आत्मा अगोचर है।

इतना समझाने पर अर्जुनने कहा कि मेरा मोह नष्ट हो गया। मुझे अपने वास्तविक स्वरूपकी याद आ गई, अतः मेरा सन्देह दूर हो गया। मैं आपकी आज्ञाका पालन करनेके लिये समुद्यत हूँ। कहिए क्या आदेश है।

जहाँ योगेश्वर कृष्ण हो,

जहाँ अर्जुन धनुवान।

मम मति, हो वहीं धन-

जीत नीति कल्याण ॥ ७ ॥

गीताकी महत्ता

गीता संसारके आत्मोत्थानके लिये अमर दिव्य ज्योति है। केवल भारतकी या हिन्दुओंकी आत्मविद्याकी निधि है, ऐसा सोचना नितान्त भूल है। गीताका उपदेश सभी सत्पात्रको दिया जा सकता है चाहे अभातीय या अहिन्दू क्यों न हो। यदि हिन्दू और भारतीय होकर भी गीताके उपदेशका पात्र नहीं है तो वह संसारमें अद्वितीय अभागा है। कृष्ण

या व्यास केवल भारत या हिन्दुओंका ही आत्मोत्थान नहीं चाहते थे अपितु सभीका उद्धार तथा कल्याण चाहते थे। जब वे ब्राह्मण, गाय, दासी, कुत्ता और भंगीमें आत्म-तत्त्वको देखनेका उपदेश देते थे, तो क्या वे देश, काल, जाति अपने, परायणकी सीमामें बांधे जा सकते हैं? ऐसी महान् आत्माओंके चरणों पर श्रद्धा तथा भक्तिपूर्वक नत-मस्तक होना ही सबके लिए समुचित है।

विद्या कभी ब्राह्मण पास बोली;

रक्षा करो मैं निधि हूँ तुम्हारी।

परापवादी, खल या बुरे को;

न दो मुझे, वीर्यवती बन् मैं।

जो सत्य द्वारा युग कर्ण खोलें;

न दुःख पाते, अमरत्व देते।

माता पिता समझे उन्हें ही;

द्रोही न होना उनका कदापि।

गये पढाये गुरु को न माने;

जो विप्र वाणी मन कर्मसे भी।

जैसे बने वे गुरुके अमान्य;

न मानती है श्रुति भी उन्हें त्यों ॥

(प्रो. उमाशंकर 'ऋषि')

॥ इत्योम् शम् ॥

॥ समाप्तोऽयमष्टादशतमोऽध्यायः ॥

॥ समाप्तश्चायं ग्रन्थः ॥

संस्कृत-पाठ-माला

[२४ भाग]

(संस्कृत भाषाका अध्ययन करनेका सुगम उपाय)

प्रतिदिन एक घण्टा अध्ययन करनेसे एक वर्षमें आप स्वयंरामायण-महाभारत समझ सकते हैं।

१४ भागोंका मूल्य १२.०० १.२५

प्रत्येक भागका मूल्य .५० .१२

संस्कृत पुस्तकें

१ सूक्ति-सुधा .३१ .०६

२ सुबोध-संस्कृत-ज्ञानम् १.२५ .२५

४ सुबोध संस्कृत व्याकरण
भाग १ और २, प्रत्येक भाग .५० .१२

५ साहित्य सुधा

(पं. मेधाव्रतजी) भाग १ १.२५ .२५

मंत्री— स्वाध्याय मण्डल, पो- 'स्वाध्याय मण्डल (पारडी)' पारडी, [जि. बलसाड]

हमारी संस्था एक स. २१ सन् १८६० ई. संख्या ४६३ पर रजि० है। नाम

संस्था जीवनप्राकृतिक चिकित्सालय

प्राकृतिक चिकित्सामें नई क्रांतिका शुभ संदेश

लेखक एवं प्रकाशक— श्री भरतसिंह वैद्य, प्राकृतिक चिकित्सक सी० ३४१, सरोजिनी नगर, नई दिल्ली।
पृष्ठ २५४, मूल्य रु. ३.००

“प्रस्तुत पुस्तकमें पंचमहाभूतोंके आधार पर रोग निवारणकी विधि और स्वस्थ रहनेके उपायों पर प्रकाश डाला गया है। आयुर्वेद तथा प्राकृतिक चिकित्साके अपने ज्ञान और अनुभवको लेखकने इतने सरल और सुन्दर ढंगसे प्रस्तुत किया है कि एक साधारण पाठक भी उसको पढ़कर लाभ उठा सकता है। स्वास्थ्य और सदाचार सम्बन्धी वैदिक मन्त्र और उनके भावार्थ देकर सृष्टिविज्ञानकी व्याख्या की गई है। शरीरकी रचना और उसके विविध अङ्गोंकी क्रियाओंका वर्णन करके रोगोंके निदान एवं उपचारके तरीके बताए गए हैं। जिन रोगियोंने इस चिकित्सा प्रणालीको अपनाकर अपने असाध्य एवं जीर्ण रोगोंसे मुक्ति पाई, उनका विवरण पढ़नेसे पुस्तककी प्रमाणिकता सिद्ध होती है। लेखककी मान्यता है कि प्रायः सभी रोग मिट्टीके प्रयोगसे दूर किए जा सकते हैं। स्वास्थ्य और उपचारमें दिलचस्पी रखनेवाले पाठक इस उपयोगी पुस्तकका स्वागत करेंगे, ऐसी आशा है।”

११-३-६२ दैनिक हिन्दुस्तान, नई देहली

मैंने सन् १९२१ ई. से डा. लुई कोहनीकी प्रणाली व अन्य प्राकृतिक चिकित्सा प्रणालियोंका अध्ययन आरम्भ किया, सन् १९३२ ई. तक रोगियों पर भी परीक्षण करता रहा, सन् १९३३ ई. से मैंने आयुर्वेदिक औषधालय मेरठ शहरमें खोल दिया, इसे २५ वर्ष तक अन्य स्थानोंमें भी चलाया। साथमें कभी कभी प्राकृतिक चिकित्साके प्रयोग भी करता रहा, इसके साथ पंचमहाभूत विज्ञानके अनुसंधानके लिये महर्षि दयानन्द सरस्वतीजीका वैज्ञानिक दृष्टिकोण अपनाया। ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका व यजुर्वेदभाष्यको व अन्य दर्शनोंसे प्रमाण संग्रहकरके वान-प्रस्थ समान जीवन व्यतीत करनेका संकल्प लिया अर्थात् सन् १९५८ में औषधालय बिलकुल बन्द कर दिया और जुलाई १९५८ में स्वर्गीय महात्मा गांधोजीकी निसर्गोपचारकी नियमावली उरुलीकाचन (पूना) से मंगाकर ग्रामीण जनताको चिकित्सामें आत्मनिर्भर बनानेके उद्देश्यको पाकर मिट्टीकी पट्टी द्वारा सरल-सूक्ष्म सिद्धांत आरम्भ किया। जो पांच वर्षतक सैकड़ों रोगियोंपर शहरों-कस्बों-ग्रामोंमें निरीक्षण-परीक्षण-चिकित्सा द्वारा सभी रोगोंपर एक समान लाभकारी सिद्ध हुआ। इसी सिद्धांतसे टबस्नान-ऐनिमा, निराहार उपवास अन्य उपकरणकी जरूरत समाप्त हो गई है। और शरीरकी रचनाके मूलधार चार स्तम्भ निश्चय हुए अन्न-शुक्र (वीर्य) श्रम-निद्रा इनकी शुद्धि पुष्टिसे शरीर व आत्माके सब रोग नष्ट हो जाते हैं। इस ज्ञानको लिपिबद्ध करनेके लिये दो पुस्तकें प्रकाशित की हैं। प्रथम जीवनसंदेश (प्राणचिकित्सा) जिसका मूल्य ३.०० है। दूसरी पंचमहाभूत विज्ञान पृष्ठ १६६ मूल्य १.०० डाकव्यय पृथक् है। चिकित्सालय पर निःशुल्क चिकित्सा होती है। विद्यार्थियोंके लिये शिक्षण, परीक्षण, चिकित्साविधि सिखानेका प्रबन्ध करनेका निश्चय है।

पता नं. १ भरतसिंह वैद्य, मंत्री- 'जीवन प्राकृतिक चिकित्सालय' गालिबपुर, डा. खास, जि. मुजफ्फरनगर

पता नं. २ डा. रामचन्द्रसिंहजी, C 341, सरोजिनी नगर, नई देहली

८०६ साधुर्न गृध्नुस्तेव शूरो यातेव भीमस्त्वेषः समत्सु ॥ ६ ॥ ११

[७१]

(ऋषिः— पराशरः शाक्यः । देवता— अग्निः । छन्दः— त्रिष्टुप् ।)

८०७ उप प्र जिन्वन्नुशतरुशन्तं पतिं न नित्यं जनयः सनीळाः ।
स्वसारः श्यावीमरुषीमजुषञ् चित्रमुच्छन्तीमुषसं न गावः ॥ १ ॥

८०८ वीळ चिद् दृह्वा पितरो न उक्थै—रद्रिं रुजन्नाङ्गिरसो रवेण ।
चक्रुर्दिवो बृहतो गातुमस्मे अहः स्वर्विविदुः केतुमुस्माः ॥ २ ॥

८०९ दधन्नुतं धनयन्नस्य धीति—मादिदुर्यो दिधिष्वोऽ विभृत्राः ।
अतृष्यन्तीरपसो यन्त्यच्छा देवान्जन्म प्रयसा वर्धयन्तीः ॥ ३ ॥

अर्थ— [८०६] यह अग्नि (साधुः न गृध्नुः) सत्पुरुषकी तरह सत्कारके योग्य (अस्ता इव शूरः) अक्ष चलानेवालेके समान वीर, (याता इव भीमः) आक्रमणकारीके समान भयंकर और (समत्सु त्वेषः) युद्धक्षेत्रमें साक्षात् तेज है ॥ ११ ॥

[७१]

[८०७] (न उशतीः जनयः पतिं नित्यं उप प्रजिन्वन्) जैसे कामना करती हुई स्त्रियां अपने पतिको हमेशा अच्छी प्रकारसे प्रसन्न करती हैं, तथा (श्यावीं उच्छन्तीं अरुषीं) श्यामवर्णवाली, अन्धकारको दूर करनेवाली श्वेतवर्णवाली (उषसं) उषाको देखकर जिस प्रकार (गावः) गायें प्रसन्न होती हैं, उसी प्रकार (सनीळाः स्वसारः) एक स्थानमें रहनेवाली भगिनीरूप अँगुलियां (चित्रं उशन्तं अजुषन्) पूजनीय अभिलाषी अग्निको प्रसन्न करती हैं ॥ १ ॥

[८०८] (नः अङ्गिरसः पितरः) हमारे अङ्गिरानामक पितरोंने (उक्थैः विळु चित् दृह्वा आद्रिं) मंत्र द्वारा बड़े और सुदृढ पर्वतके किलेको (रवेण रुजन्) शब्दमात्रसे ही नष्ट कर दिया । उसके पश्चात् तब (बृहतः दिवः गातुं अस्मे चक्रुः) महान् आकाशके मार्गको हमारे लिए बनाया और (स्वः अहः) सुखकर दिवस, (केतुं, अस्माः विविदुः) सूर्य एवं गौवोंको उन लोगोंने प्राप्त किया ॥ २ ॥

१ अङ्गिरसः दृह्वा आद्रिं रवेण रुजन्— अङ्गरसको जाननेवालोंने सुदृढ पहाड़के किलेको भी शब्दमात्रसे तोड़ दिया ।

[८०९] (ऋतं दधन्) सत्यको धारण करनेवाले मनुष्योंने (अस्य धीतिं धनयन्) इस अग्निके तेजको धनके समान धारण किया । (आत् इत्) उसके बाद ही (अर्यः दिधिष्वः) धनकी स्वामिनी, तेज धारण करनेवाली (विभृत्राः अतृष्यन्तीः) पोषण करनेवाली, तृष्णारहित (अपसः) कर्म करनेवाली प्रजाएं (प्रयसा) अन्नदानसे (देवान् जन्म वर्धयन्तीः) देवोंको और मनुष्योंको बढ़ाती हुई (अच्छ यन्ति) इस अग्निके पास सीधी जाती हैं ॥ ३ ॥

१ अर्यः दिधिष्वः विभृत्राः, अतृष्यन्तीः अपसः प्रयसा देवान् जन्म वर्धयन्तीः— राष्ट्रकी प्रजाएं धनकी स्वामिनी, तेज धारण करनेवाली, पोषण करनेवाली, तृष्णा रहित, कर्म करनेवाली तथा हविदान और अन्नदानसे देवों और मनुष्यको बढ़ानेवाली हों ।

भावार्थ— वह अग्नि सत्कारके योग्य, शूरवीर, भयंकर और अत्यन्त तेजस्वी है ॥ ११ ॥

यह अग्नि यज्ञमें जलाई जाती है, तब मनुष्य हवि आदि देकर इसे प्रसन्न करते हैं ॥ १ ॥

अङ्गरसको जाननेवालोंने पर्वत पर घने किलोंको नष्ट किया और आकाशके मार्गको बनाया जिससे मनुष्योंने धन प्राप्त किया ॥ २ ॥

पहले तेजस्वी बनना चाहिए, फिर उत्तम गुणोंसे युक्त होकर अग्निकी उपासना करनी चाहिए ॥ ३ ॥

२३ (ऋ. सु. भाष्य)

- ८१० मथीद् यदीं विभृतो मातरिश्वा गृहेगृहे ज्येतो जेन्यो भूत् ।
 आदीं राज्ञे न सहीयसे सचा सन्ना दूत्यं भृगवाणो विवाय ॥ ४ ॥
- ८११ महे यत् पित्र ई रसं दिवे क—रव त्सरत् पृशन्यश्चिकित्वान् ।
 सृजदस्ता धृषता दिद्युमस्मै स्वायां देवो दुहितरि त्विषि धात् ॥ ५ ॥
- ८१२ स्व आ यस्तुभ्यं दम आ विभाति नमो वा दाशादुशतो अनु घून् ।
 वधो अग्रे वयो अस्य द्विर्हा यासद् राया सरथं यं जुनासि ॥ ६ ॥

अर्थ—[८१०] (ई यत् विभृतः मातरिश्वा मथीद्) इस अग्निको जब पोषण करनेवाले वायुने मथकर प्रकट किया तब यह अग्नि (ज्येतः गृहे गृहे जेन्यः) शुभ्रवर्णवाला होकर घर-घरमें विजयी हुआ। (आत्, ई भृगवाणः दूत्यं आ विवाय) फिर भृगुओंने इस अग्निको उसी प्रकार दूत बनाया, (न) जिस प्रकार (सचा सन् सहीयसे राज्ञे) मित्र हुआ हुआ कोई राजा दूसरे प्रबल राजाके पास दूत भेजता है ॥ ४ ॥

१ ई मातरिश्वा मथीत्— इस अग्निको वायु मथकर पैदा करता है मनुष्य शरीरमें वायुरूप व्यान अग्निको प्रज्वलित रखता है। ' अग्नेर्मन्थनस्य व्यानवायुसाध्यत्वं ' (सायण)। प्राण और अपानके मिले हुए रूपको व्यान कहते हैं।

२ गृहे गृहे जेन्यः— यह अग्नि प्रत्येक घर अर्थात् शरीरमें प्रकट होता है।

[८११] (यत्) जब मनुष्य (महे पित्रे दिवे) महान् और पोषण करनेवाले देवगणके लिए (ई रसं) इस सोमरसको तैयार करता है, तब (कः पृशन्यः चिकित्वान्) कौन सज्जन और ज्ञानी पुरुष (अवत्सरत्) इसे चुराकर भाग सकता है ? क्योंकि (अस्ता) अन्न फेंकनेमें निपुण यह अग्नि (धृषता) अपने धनुषसे (अस्मै) इस चुरानेवालेपर (दिद्यु सृजत्) बाण फेंकता है। (देवः स्वायां दुहितरि) सूर्यदेव अपनी ही पुत्री उषामें (त्विषि धात्) तेज स्थापित करता है ॥ ५ ॥

[८१२] हे (अग्रे) अग्रे (तुभ्यं स्वे दमे यः आ विभाति) तुझे अपने गृहमें जो मनुष्य प्रदीप्त करता है, और (अनुघून् उशतः नमः वा दाशात्) प्रतिदिन तेरी कामना करते हुये तुझे हविरूप अन्न प्रदान करता है, हे (द्विर्हाः) दो स्थानोंमें वर्धित अग्रे ! (अस्य वयः वर्धः) तू उस मनुष्यकी आयु बढ़ा। और (यं सरथं जुनासि) जिस पुरुषको रथके साथ युद्धमें प्रेरित करता है उसको (राया यासत्) धनसे युक्त कर ॥ ६ ॥

१ तुभ्यं स्वे दमे विभाति, अनुघून् नमः दाशात् वयः वर्धः, राया यासत्— इस अग्निको जो अपने घरमें प्रकाशित करता एवं प्रतिदिन हवि देता है, उसकी आयु बढ़ती है और उसे धन प्राप्त होता है।

भावार्थ— वायुके मन्थनसे प्रकट होकर यह अग्नि प्रत्येक शरीरको धारण करता है और देवताओं अर्थात् इन्द्रियोंको रस पहुंचाता है ॥ ४ ॥

इस अग्रणी देवके सर्वव्यापक होनेसे कोई भी इससे छिपकर कुछ कर नहीं सकता। यह अग्नि प्रत्येकको यथायोग्य दण्ड देता है ॥ ५ ॥

घरमें प्रतिदिन यज्ञ करनेसे आयु बढ़ती है और धन प्राप्त होता है ॥ ६ ॥

- ८१३ अग्निं विश्वा अग्निं पृक्षः सचन्ते समुद्रं न स्रवतः सप्त यद्वीः ।
न जामिभिर्वि चिकिते वयो नो विदा देवेषु प्रमतिं चिकित्वान् ॥ ७ ॥
- ८१४ आ यदिषे नृपतिं तेज आनद् छुचि रेतो निषिक्तं द्यौरभीके ।
अग्निः शर्धमनवद्यं युवानं स्वाध्यं जनयत् सूदयन्च ॥ ८ ॥
- ८१५ मनो न योऽध्वनः सद्य एत्येकः सत्रा सूरौ वस्व ईशे ।
राजाना मित्रावरुणा सुपाणी गोषु प्रियममृतं रक्षमाणा ॥ ९ ॥
- ८१६ मा नो अग्ने सख्या पित्र्याणि प्र मर्षिष्ठा अग्निं विदुष्कविः सन् ।
नभो न रूपं जरिमा मिनाति पुरा तस्या अभिशस्तेरधीहि ॥ १० ॥

अर्थ— [८१३] (विश्वाः पृक्षः अग्निं अभिसचन्ते) सम्पूर्ण अन्न अग्निको उसी प्रकार प्राप्त होते हैं, (सप्त यद्वीः स्रवतः समुद्रं न) जिस प्रकार सात महान् नदियाँ बहती हुई समुद्रको प्राप्त होती हैं । (नः जामिभिः वयः न वि चिकिते) हमारे जातिवालोंको अन्न प्राप्त नहीं होता है अतः हे अग्ने ! तू (देवेषु प्रमतिं चिकित्वान् विदाः) देवोंमें उनकी उत्तम बुद्धिको या भक्तिको जानकर उन्हें अन्न प्रदान कर ॥ ७ ॥

[८१४] (यत् छुचिः द्यौः तेजः) जब शुद्ध, दीप्तिमान् तेज (नृपतिं इषे आनद् आ) अन्नके लिये मनुष्यके चारों ओर व्याप्त हुआ, तब (अग्निः अभीके निषिक्तं रेतः जनयत्) अग्निने पास ही स्थित जलसे भरे मेघको उत्पन्न किया और उससे (शर्धं अनवद्यं, युवानं स्वाध्यं सूदयत्) बलवान्, प्रशंसनीय, पुष्टिकारक तथा अन्नको उत्पन्न करने-वाले जलको (च सूदयत्) प्रेरित किया ॥ ८ ॥

[८१५] (मनो न) मनकी तरह शीघ्रगामी (यः सूरः एकः अध्वनः सद्यः एति) जो सूर्य अकेले ही दिव्य-मार्गसे शीघ्र जाता है, और (वस्वः सत्रा ईशे) और विविध धनपर शीघ्र अधिकार जमाता है; तथा (राजाना सुपाणी) शोभायमान सुन्दर भुजाओंवाले (मित्रावरुणा) मित्र और वरुण हमारी (गोषु प्रियं, अमृतं रक्षमाणा) गौवोंमें प्रीतिकर अमृततुल्य दूधकी जो रक्षा करते हैं, हे अग्ने ! वह सब तेरा ही ग्रभाव है ॥ ९ ॥

[८१६] हे (अग्ने) अग्ने ! (पित्र्याणि सख्या मा प्र मर्षिष्ठाः) पितरोंसे आई हुई हमारी मित्रता नष्ट न कर, क्योंकि तू (कविः सन् अभिविदुः) क्रान्तदर्शी होकर सब कुछ जाननेवाला है । (नभः न) जैसे मेघ सूर्यकी किरणोंको ढक लेते हैं वैसे (रूपं जरिमा मिनाति) रूपको बुढापा नष्ट कर देता है, (अभिशस्तेः तस्याः पुरा अधि इति) अतः हे अग्ने ! विनाश करनेवाले उस बुढापेके आनेके पहले ही उसे तू समाप्त कर दे ॥ १० ॥

भावार्थ— वह अग्नि सब तरहके अन्नोंका भण्डार है, इसलिए जो उसकी भक्ति करता है, वह अन्नसे युक्त होता है ॥ ७ ॥

यज्ञाग्निसे मेघ उत्पन्न होते हैं और उससे पुष्टिकारक तथा अन्नोत्पादक जल बरसता है ॥ ८ ॥

इसी अग्निके प्रभावके कारण सूर्य अकेले ही अपने विस्तृत मार्गपर चलता है और धनोपर अधिकार करता है । मित्र और वरुण गायोंकी रक्षा करते हैं ॥ ९ ॥

यह अग्नि सर्वज्ञ है । अतः इस अग्निको प्रज्वलित करनेसे तेज बढ़ता है और बुढापा जल्दी नहीं आता ॥ १० ॥

(१८०)

ऋग्वेदका सुबोध भाष्य

[७२]

(ऋषिः— पराशरः शाक्त्यः । देवता— अग्निः । छन्दः— त्रिष्टुप् ।)

८१७ नि कांव्या वेधसः शश्वतस्कृ—हस्ते दधानो नर्या पुरुणि ।

अग्निश्चैवद रयिपती रयीणां सत्रा चक्राणो अमृतानि विश्वा ॥ १ ॥

८१८ अस्मे वत्सं परि षन्तं न विन्द—न्निच्छन्तो विश्वे अमृता अमूराः ।

श्रमयुवः पदव्यो धियंधा—स्तस्थुः पदे परमे चार्चयेः ॥ २ ॥

८१९ तिस्रो यदग्रे शरदस्त्वामि—च्छुचिं घृतेन शुचयः सपर्यान् ।

नामानि चिद् दधिरे यज्ञियान्य—सूदयन्त तन्वः । सुजाताः ॥ ३ ॥

८२० आ रोदसी बृहती वेविदानाः प्र रुद्रिया जग्निरे यज्ञियासः ।

विदन्मर्तो नेमधिता चिकित्वा—नग्निं पदे परमे तस्थिवांसम् ॥ ४ ॥

[७२]

अर्थ—[८१७] (नर्या पुरुणि हस्ते दधानः) मनुष्योंके हितसाधक बहुतसे धनोंको हाथमें धारण करता हुआ यह अग्नि (शश्वतः वेधसः काव्या) नित्य ब्रह्माके मन्त्ररूप स्तोत्रोंको (नि कः) ग्रहण करता है, और अपने स्तुति करनेवालोंको (विश्वा अमृतानि सत्रा चक्राणः) सम्पूर्ण सुवर्णोंको एक साथ प्रदान करता हुआ यह (अग्निः रयीणां रयिपतिः भुवत्) अग्नि सर्वोच्च धनोंमें भी सर्वश्रेष्ठ धनका स्वामी होता है ॥ १ ॥

[८१८] (विश्वे अमूराः अमृताः इच्छन्तः) सारे ज्ञानी देवगण इच्छा करते हुये भी (अस्मे वत्सं परिषन्तं न विन्दन्) हमारे प्रिय सर्वव्यापी अग्निको न पा सके । (पदव्यः श्रमयुवः धियंधाः) अग्निके अन्वेषणमें श्रम करनेवाले वे बुद्धिमान् लोग अन्तमें (अग्रेः चारु परमे पदे तस्थुः) अग्निके उस सुन्दर स्थानतक पहुँच गए ॥ २ ॥

१ विश्वे अमूरा अमृताः न विन्दन्— सब ज्ञानी और अमर देवगण भी अग्निको न पा सके ।

२ पदव्यः अग्रेः परमे पदे तस्थुः— फिर भी खोजनेवाले अग्निके उत्तम स्थानतक पहुँच ही गए ।

[८१९] हे (अग्रे) अग्ने ! (शुचिं त्वां इत्) पवित्र तुझको (शुचयः तिस्रः शरदः) दीप्तमान् मनुष्योंने तीन वर्षोंतक (घृतेन यत् सपर्यान्) घृतेसे जब प्रसन्न किया, तब (यज्ञियानि नामानि चिद् दधिरे) उन्होंने प्रशंसनीय यज्ञको धारण कर, (सुजातः तन्वः असूदयन्त) उत्तम कुलमें उत्पन्न हुए उन्होंने अपने शरीरोंको पवित्र किया ॥ ३ ॥

[८२०] (यज्ञियासः बृहती रोदसी आ वेविदानाः) पूज्य याज्ञकोने महान् पृथ्वी और आकाशका ज्ञान करात्त हुए (रुद्रिया प्रजग्निरे) अग्निके योग्य स्तोत्रोंको भेंट किया । (मर्तोः नेमधिता परमे पदे) मनुष्योंने इन्द्रके साथ उत्तम स्थानमें (तस्थिवांसं) ठहरे हुये (अग्निं चिकित्वा विदत्) अग्निको जानकर प्राप्त किया ॥ ४ ॥

भावार्थ— यह अग्नि श्रेष्ठ धनोंका स्वामी है और स्तोताओंकी धनसे सहायता करता है ॥ १ ॥

अग्निके रहस्यको पाना साधारण काम नहीं है । पर उसकी खोजमें यदि परिश्रम किया जाए तो बुद्धिमान् इसके रहस्यको जान सकते हैं ॥ २ ॥

अग्निमें घृतादिकी बाहुति डालनेसे हवा शुद्ध होती है, उससे शरीर शुद्ध होकर मनुष्योंका स्वास्थ्य उत्तम रहता है ॥ ३ ॥

उन याज्ञकोने अग्निके रहस्यको जानकर उसके स्थानको प्राप्त कर लिया ॥ ४ ॥

८२१ संजानाना उप सीदन्नभिञ्जु पत्नीवन्तो नमस्यं नमस्यन् ।

रिरिक्कांसस्तन्वः कृण्वत् स्वाः सखा सख्युर्निमिषि रक्षमाणाः

॥ ५ ॥

८२२ त्रिः सप्त यद् गुह्यानि त्वे इत् पदाविदुर्निहिता यज्ञियासः ।

तेभि रक्षन्ते अमृतं सजोषाः पशून् च स्थातृच्चरथं च पाहि

॥ ६ ॥

८२३ विद्वाँ अग्ने वयुनानि क्षितीनां व्यानुषक् छुरुधो जीवसे धाः ।

अन्तर्विद्वाँ अध्वनो देवयानान् नतन्द्रो दूतो अभवो हविर्वाट्

॥ ७ ॥

अर्थ— [८२१] हे अग्ने ! उन याजकोंने (संजानानाः) सम्यक् प्रकारसे जानकर, (पत्नीवन्तः, नमस्यं अभिञ्जु उपसीदन् नमस्यन्) अपनी पत्नियों सहित, नमस्कारके योग्य तेरे सम्मुख घुटनोंके बल बैठकर पूजा की । उस समय (स्वाः तन्वः रिरिक्कांसः कृण्वत्) अपने शरीरोंको पवित्र करते हुए (रक्षमाणाः सखा सख्युः निमिषि) और तुझसे रक्षित होकर, मित्र देवोंने मित्रभावसे निमिषमात्रके लिये तुमको देखा ॥ ५ ॥

[८२२] हे अग्ने ! (यज्ञियासः) यज्ञ करनेवालोंने (त्रिः सप्त गुह्यानि यत् पदाः) इक्कीस संख्यावाले रहस्यसे भरे हुये जो पद (त्वे इत् निहिता अविदन्) तुझमें स्थित हैं उनको जाना, (तेभिः अमृतं रक्षन्ते) वे उनसे अमृतकी रक्षा करते हैं । तू (सजोषाः पशून् च स्थातृन् च चरथं पाहि) सब पर प्रीति युक्त होकर उनके पशुओंकी और स्थावरोंकी तथा जंगम प्राणियोंकी रक्षा कर ॥ ६ ॥

त्रिसप्त गुह्यानि पदा— तीन गुना सात अर्थात् इक्कीस प्रकारकी यज्ञकी विधियाँ हैं, जो मानवोंका हित करती हैं ।

[८२३] हे (अग्ने) अग्ने ! तू (वयुनानि विद्वान् क्षितीनां जीवसे) मनुष्योंके व्यवहारोंका ज्ञाता और सम्पूर्ण विद्या युक्त है, अतः प्रजाओंके जीवन धारणके लिये (शुरुधः आनुषक् वि धाः) अन्नादिसे क्षुधा निवृत्ति कर । (अन्तः देवयानान् विद्वान् अध्वनः) ध्रुलोक और पृथ्वी लोकके मध्यमें जिस मार्गसे देवता लोग जाते हैं उसको जानकर (अतन्द्रः हविः वाट् अभवः) आलस्य रहित होकर दूत रूपसे हव्यका वहन करनेवाला हो ॥ ७ ॥

१ वयुनानि विद्वान् क्षितीनां जीवसे शुरुधः आनुषक् विधाः— राष्ट्रमें अग्रणीको प्रजाका आचार विचार जानकर उनके जीवनके लिए अन्नकी प्राप्तिका प्रयत्न करना चाहिए ।

भावार्थ— जो मनुष्य विनम्रभावसे इस अन्नकी पूजा करते हैं, वे अग्निसे रक्षित व पवित्र होकर उसका दर्शन करते हैं ॥ ५ ॥

यज्ञकी इक्कीस विधियोंको जानकर मनुष्योंका हित किया जा सकता है । राष्ट्रमें पशु, पक्षी, वृक्ष, वनस्पति आदि सभीकी सुरक्षा होनी चाहिए ॥ ६ ॥

अग्रणीको प्रथम प्रजाओंका आचार विचार जानना चाहिए, फिर उनके सुखका प्रबन्ध करना चाहिए । तथा आलस्य रहित होना चाहिए ॥ ७ ॥

- ८२४ स्वाध्यां दिव आ सप्त यद्वा रायो दुरो व्यृतज्ञा अजानन् ।
विदद् गव्यं सरमा दृह्मूर्व येना नु कं मानुषी भोजते विट् ॥ ८ ॥
- ८२५ आ ये विश्वा स्वपत्यानि तस्थुः कृष्णानासो अमृतत्वाय गातुम् ।
महा महद्भिः पृथिवी वि तस्थे माता पुत्रैरदितिर्धायसे वेः ॥ ९ ॥
- ८२६ अधि श्रियं नि दधुश्चारुमस्मिन् दिवो यदक्षी अमृता अकृण्वन् ।
अधं क्षरन्ति सिन्धवो न सृष्टाः प्र नीचीरग्रे अरुषीरजानन् ॥ १० ॥

अर्थ— [८२४] (स्वाध्यः सप्त यद्वाः) शुभकर्मसे युक्त सात बड़ी बड़ी नदियां (दिवः आ) ब्रुलोकसे बह रही हैं । (ऋतज्ञाः रायः दुरः वि अजानन्) सत्यको जाननेवालोंने सम्पत्तिके दरवाजोंको खोलनेकी रीति जान ली । (गव्यं दृह्मं ऊर्वं सरमा विदत्) गायोंमें होनेवाले बहुतसे अन्नको सरमाने जाना, (येन नु मानुषी विट् कं भोजते) जिसे आजकल मनुष्यकी प्रजाएं सुखसे खाती पीती हैं ॥ ८ ॥

१ ऋतज्ञाः रायः दुरः विदन्— सत्यको जाननेवालोंने ऐश्वर्यका मार्ग जान लिया ।

२ स्वाध्यः सप्त यद्वाः— (सु+आ+धी) उत्तम प्रकार ध्यान धारणा जिनके किनारे होती है, ऐसी सात नदियां । नदियोंके किनारे और पर्वतोंकी गुफाओंमें ध्यान धारणा अच्छी प्रकार हो सकती है, ऐसा यजुर्वेद में कहा है— ‘ उपह्वरे गिरीणां संगमे च नदीनां । धिया विप्रो अजायत ॥ (यजु. २६।१५)

[८२५] (ये अमृतत्वाय) जो अमरत्व प्राप्तिके लिए (गातुं कृष्णानासः) मार्ग तैय्यार करते हैं, वे (विश्वा स्वपत्यानि) उत्तम कर्मोंका अनुष्ठान करते हैं । (महाद्भिः पुत्रैः) बड़े वीर पुत्रोंसे युक्त (माता अदितिः) माता तथा खण्डनके अयोग्य (पृथिवी) पृथ्वी (धायसे महा वि तस्थे) धारणपोषणके लिए अपनी महिमासे विस्तृत हुई । (वेः) वहीं हे अग्ने ! तू हवि खाता है ॥ ९ ॥

१ ये अमृतत्वाय गातुं कृष्णानासः विश्वा स्वपत्यानि आ तस्थुः— जो अमरत्वकी प्राप्ति का मार्ग तैय्यार करते हैं, वे उत्तम कर्मोंका अनुष्ठान करते हैं ।

[८२६] (दिवः अमृताः यत् अक्षी अकृण्वन्) ब्रुलोकसे अमर देवोंने जब दो आंखें बनाई तब (अस्मिन् चारुं श्रियं अधि नि दधुः) उन्होंने इस अग्निमें सुन्दर और शोभायुक्त तेज स्थापित किया । (अधं सृष्टाः सिन्धवः न) बादमें जिस प्रकार प्रेरित हुई नदियां फैलती हैं, उसी तरह (नीचीः अरुषीः अरन्ति) सभी दिशाओंमें इस अग्नि-के तेज फैलते हैं उन तेजोंसे हे अग्ने ! (प्रजाजन्) तेरा ज्ञान हुआ ॥ १० ॥

१ दिवः अमृताः यत् अक्षी अकृण्वन् अस्मिन् चारुं श्रियं नि दधुः— ब्रुलोकमें देवोंने जब दो आंखें अर्थात् सूर्य चन्द्र बनाये उसी समय उन्होंने इस अग्निमें तेज स्थापित किया ।

भावार्थ— मनुष्य नदीके किनारे ध्यान करके सत्यको जानकर सभी सम्पत्ति प्राप्त कर सकता है । गायका दूध मनुष्योंके लिए एक उत्तम भोजन है ॥ ८ ॥

उत्तम कर्मोंके अनुष्ठानसे ही अमरत्व प्राप्त किया जा सकता है । धारण पोषणके लिए ही यह पृथ्वी इतनी विस्तृत है । इसी पृथ्वी पर यज्ञ किए जाते हैं ॥ ९ ॥

सूर्य चन्द्रके साथ ही देवोंने इस अग्नि का भी निर्माण किया । उसके बाद इसकी किरणें फूटीं और चारों ओर फैल गईं, उससे इस अग्नि को लोगोंने जाना ॥ १० ॥

[७३]

(ऋषिः— पराशरः शाक्त्यः । देवता— अग्निः । छन्दः— त्रिष्टुप् ।)

८१७ रयिर्न यः पितृवित्तो वयोधाः सुप्रणीतिश्चिकितुषो न शासुः ।

॥ १ ॥ स्योनशीरतिथिर्न प्रीणानो होतैव सन्न विधतो वि तारीत्

८१८ देवो न यः सविता सत्यमन्मा ऋत्वा निपाति वृजनानि विश्वा ।

॥ २ ॥ पुरुप्रशस्तो अमतिर्न सत्य आत्मेव शेषो दिधिषाय्यो भूत्

८१९ देवो न यः पृथिवीं विश्वधाया उपक्षेति हितमित्रो न राजा ।

॥ ३ ॥ पुरःसदः शर्मसदो न वीरा अनवद्या पतिजुष्टेव नारी

[७३]

अर्थ— [८१७] (यः) यह अग्नि (पितृवित्तः रयिः वयः ५धाः) पितासे प्राप्त सम्पत्तिकी तरह अन्नका देने-वाला, (चिकितुषः न शासुः सुप्रणीतः) ज्ञानी व्यक्तिके उपदेशकी तरह उत्तम मार्गपर ले जाता है, (स्योनशीः अतिथिः न प्रीणानः) सद्गृहस्थके घरमें आदरसे बैठाये हुये अतिथिकी तरह यह सुखदायी है, और (होता इव, विधतः सन्न वि तारीत्) होताके समान यजमानके घरको बढाता है ॥ १ ॥

१ स्योनशीः अतिथिः न प्रीणानः— सुखसे विश्राम करनेवाले अतिथिकी तरह सुख देनेवाला यह अग्नि है ।

[८१८] (देवः सविता न) प्रकाशमान् सूर्यकी तरह (सत्यमन्मा, यः ऋत्वा विश्वा वृजनानि निपाति) बथार्थदर्शी जो अग्नि अपने कर्मों द्वारा सब पापोंसे रक्षा करता है । (पुरुप्रशस्तः अमतिः न सत्यः) अनेकोंसे प्रशंसित यह अग्नि प्रगति करनेवालेकी तरह सत्य मार्गपर चलता है । (आत्मा इव, शेषः, दिधिषाय्यः भूत्) आत्माकी तरह सुखकर और सबके द्वारा धारण करने योग्य है ॥ २ ॥

१ यः सत्यमन्मा ऋत्वा विश्वा विजनानि नि पाति— जो सत्यमार्ग पर चलता है, वह अपने कर्मोंसे सारे पापोंसे सबको सुरक्षित रखता है ।

२ अमतिः सत्यः— सत्य मार्गपर चलनेसे ही प्रगति या उन्नति हो सकती है ।

[८१९] (यः देवः न विश्वधायाः) जो अग्नि प्रकाशमान् सूर्यकी तरह समस्त संसारको धारण करता है । (हितमित्रः न राजा) अनुकूल मित्रके सम्पन्न राजाकी तरह (पृथिवीं उपक्षेति) पृथिवीपर निवास करता है । (पुरः सदः, शर्मसदः न वीराः) लोग इसके सामने इस प्रकारसे बैठते हैं, जिस प्रकार पिताके घरमें पुत्र बैठता है । तथा यह (अनवद्या, पतिजुष्टा नारी इव) पतिसे सेवित पतिव्रता स्त्रीकी तरह विशुद्ध है ॥ ३ ॥

१ हितमित्रः पृथिवीं उपेक्षति— हितकारी मित्रोंसे युक्त व्यक्ति ही इस संसारमें सुखसे रह सकता है ।

२ अनवद्या पति जुष्टा नारी विश्वधायाः— अनिन्दित पतिव्रता नारी ही संसारको धारण करती है ।

भावार्थ— यह अग्नि अन्न देनेवाला, उत्तम मार्गसे ले चलनेवाला, सुखदायक और घरकी शोभा बढानेवाला है ॥ १ ॥

सत्य मार्गपर चलनेवाला उन्नतिशील अग्नि दूसरोंको भी सत्य मार्गपर चलाकर उनकी पापोंसे रक्षा करता है और उन्नत बनाता है । यह आत्माकी तरह सबका आश्रय स्थान है ॥ २ ॥

यह अग्नि सर्वथा पवित्र है इसीलिये यह पृथ्वीको धारण करता है और सबसे प्रशंसित होता है ॥ ३ ॥

- ८३० तं त्वा नरो दम् आ नित्यमिद्ध—मग्ने सचन्त क्षितिषु ध्रुवासु ।
अधि द्युम्नं नि दधुर्भूर्यस्मिन् भवा विश्वायुर्धरुणो रयीणाम् ॥ ४ ॥
- ८३१ वि पृक्षो अग्ने मघवानो अश्व्यु—वि सूरयो ददतो विश्वमायुः ।
सनेम वाजं समिथेष्वर्यो भागं देवेषु श्रवसे दधानाः ॥ ५ ॥
- ८३२ ऋतस्य हि धेनवो वावशानाः स्मदूध्नीः पीपयन्तु द्युमक्ताः ।
परावतः सुमतिं भिक्षमाणा वि सिन्धवः समया ससुरद्रिम् ॥ ६ ॥
- ८३३ त्वे अग्ने सुमतिं भिक्षमाणा दिवि श्रवो दधिरे यज्ञियासः ।
नक्ता च चक्रुरपसा विरूपे कृष्णं च वर्णमरुणं च सं धुः ॥ ७ ॥

अर्थ—[८३०] हे (अग्ने) अग्ने ! (तं त्वा ध्रुवासु, क्षितिषु) उस तुझको लोग उपद्रवशून्य स्थानोंपर (दमे नित्यं इद्धं, आ सचन्त) अपने घरमें सदा समिधानोंसे जलाकर तेरी सेवा करते हैं। साथ ही (अस्मिन्, भूरि द्युम्नं अधि नि दधुः) इस अग्निमें लोगोंने बहुत अन्नको प्रदान किया है। (विश्वायुः, रयीणां धरुणः भव) सबका प्राण-रूप होकर तू हमारे लिये धनोंको देनेवाला हो ॥ ४ ॥

[८३१] हे (अग्ने) अग्ने ! (मघवानः, पृक्षः वि अश्व्युः) धनशील यज्ञ करनेवाले अश्वोंको प्राप्त करें। और (सूरयः, ददतः विश्वमायुः वि) विद्वान् दाताओंको दीर्घ आयु प्राप्त हो तथा हम (श्रवसे देवेषु भागं दधानाः) यज्ञके निमित्त देवताओंको हवि देते हुये, (समिथेषु अर्यः वाजं सनेम) युद्धोंमें शत्रुके अन्नको प्राप्त करें ॥ ५ ॥

[८३२] (स्मदूध्नीः, द्युमक्ताः, धेनवः, वावशानाः) नित्य दूध देनेवाली, तेजस्विनी गाँयें, पुनः पुनः कामना, करके (ऋतस्य हि पीपयन्तु) यज्ञ स्थानमें प्राप्त अन्नको ही दुग्धपान कराती हैं। और (सिन्धवः, सुमतिं भिक्षमाणाः) बहनेवाली नदियाँ अग्निसे बुद्धिकी याचना करती हुई (अद्रिं समया परावतः विसस्रुः) पर्वतके समीप दूर देशसे प्रवाहित होती हैं ॥ ६ ॥

[८३३] हे (अग्ने) अग्ने ! (यज्ञियासः सुमतिं भिक्षमाणाः) पूज्यजनोंने कल्याणकारी बुद्धिकी याचना करते हुये, (दिवि त्वे श्रवः दधिरे) तेजस्वी तुझमें हवि प्रदान की, उसके अनन्तर (उपसा च नक्ता विरूपे चक्रुः) उषा और रात्रीको विभिन्न रूपोंसे युक्त किया। (च कृष्णं वर्णं च अरुणं सं धुः) और रात्रीमें कृष्णवर्णको, तथा उषामें अरुण वर्णको भरा ॥ ७ ॥

१ सुमतिं भिक्षमाणाः यज्ञियासः श्रवः दधिरे— उत्तम बुद्धिकी कामना करनेवाले पूज्य जन अग्निमें हविकी जाहुतियाँ देते हैं।

भावार्थ— हे अग्ने ! लोग तुझे यज्ञ स्थानमें प्रदीप्त करके तेरी पूजा करते हैं। तुझमें बहुतसे अन्नकी हवि भी दी जाती है। अतः तू हमें पूर्ण दीर्घ आयु देकर धन दे ॥ ४ ॥

हे अग्ने ! धनसम्पन्न यजमान अन्न प्राप्त करें, तथा ज्ञानी दाता दीर्घायु प्राप्त करें। यज्ञके लिए हम देवोंकी पूजा करते हुए शत्रुओंको हराकर उनके धन पर अधिकार करें ॥ ५ ॥

यज्ञकी सेवाकी इच्छा करनेवाली दूधसे भरे यनोंवाली, तेजयुक्त गाँयें यज्ञके लिए दूध देती हैं। साथ साथ नदियाँ भी पर्वतोंसे प्रवाहित होती हैं ॥ ६ ॥

उत्तम बुद्धिकी चाहनेवालोंने यज्ञ प्रारंभ किया और यज्ञ प्राप्त किया। उनके यज्ञ उषःकाल और रात्रीमें भी चकते थे ॥ ७ ॥

८३४ यान् राये मर्तान्सुषूदो अग्ने ते स्याम मघवानो वयं च ।

॥ ८ ॥ छायेव विश्वं भुवनं सिसक्ष्या—पप्रिवान् रोदसी अन्तरिक्षम्

८३५ अर्वद्विरग्ने अर्वतो नृभिर्नृन् वीरैर्वीरान् वनुयामा त्वोताः ।

॥ ९ ॥ ईशानासः पितृवित्तस्य रायो वि सूरयः शतहिमा नो अश्रुः

८३६ एता ते अग्न उचथानि वेधो जुष्टानि सन्तु मनसे हृदे च ।

॥ १० ॥ शकेम रायः सुधुरो यमं ते ऽग्नि श्रवो देवभक्तं दधानाः

[७४]

(ऋषिः— गोतमो राहगणः । देवता— अग्निः । छन्दः— गायत्री ।)

८३७ उपप्रयन्तो अध्वरं मन्त्रं वोचेमाग्नये । आरे अस्मे च शृण्वते

॥ १ ॥

अर्थ— [८३४] हे (अग्ने) अग्ने ! तू (यान् मर्तान् राये सुषूदः) जिन मनुष्योंको धनकी प्राप्ति के लिये प्रेरित करता है, (ते च वयं मघवानः स्याम) वे और हम धनवान् हों । तूने (रोदसी) आकाश—पृथ्वी और (अन्तरिक्षं आ पप्रिवान्) अन्तरिक्षको प्रकाशसे परिपूर्ण किया है; साथ ही (विश्वं भुवनं छाया इव सिसक्षि) सम्पूर्ण जगत् छायाकी तरह तेरे साथ संयुक्त है ॥ ८ ॥

[८३५] हे (अग्ने) अग्ने ! (त्वा ऊताः अर्वद्विः अर्वतोः) तुझसे रक्षित होकर हम अपने अश्वोंसे शत्रुओंके अश्वोंका (नृभिः नृन् वीरैः वीरान् वनुयाम) अपने योद्धाओंके द्वारा शत्रुओंके योद्धाओंका और अपने पुत्रोंके द्वारा शत्रुओंके पुत्रोंका वध करें । (पितृवित्तस्य रायः ईशानासः) पैतृक सम्पत्तिके धनके स्वामी होकर (सूरयः नः शतहिमाः वि अश्रुः) विद्वान् हमारे पुत्र सौ वर्षके जीवतका विशेष भोग करें ॥ ९ ॥

[८३६] हे (वेधः अग्ने) बुद्धिमान् अग्ने ! (एता उचथानि) ये हमारे स्तोत्र (ते मनसे हृदे च जुष्टानि सन्तु) तेरे मन और हृदयको प्रिय लगे, ताकि हम (देवभक्तं श्रवः अधि दधानाः) तेजस्विताको प्राप्त करानेवाले अन्नको प्राप्त करते हुए (सुधुरः ते रायः यमं शकेम) दारिद्र्यको नष्ट करनेवाले तेरे धनका निधनत्रण कर सकें ॥ १० ॥

१ एता उचथानि ते जुष्टानि सन्तु— हे अग्ने ! हमारे ये स्तोत्र तुझे प्रिय लगे ।

२ सुधुरः राय यमं शकेम— दारिद्र्यको नष्ट करनेवाले तेरे उत्तम धनके हम स्वामी बनें ।

[७४]

[८३७] (अध्वरं उदप्रयन्तः) यज्ञके समीप जाते हुये (आरे च अस्मे शृण्वते) दूरसे भी हमारी स्तुतियोंको सुननेवाले (अग्नये मन्त्रं वोचेम) अग्निकी हम मननशील स्तोत्रोंसे स्तुति करें ॥ १ ॥

१ अ-ध्वरं उदप्रयन्तः— हिंसा और कुटिलता रहित कार्यको ही मनुष्य करे ।

२ शृण्वते मन्त्रं वोचेम— सुननेवालोंकी ही हम उपदेश दें । जो सुनता न हो उसे कभी भी उपदेश न दें ।

भावार्थ— इस अग्निके बताए मार्ग पर चल कर ही लोग धनवान् होते हैं । अग्निके प्रकाशसे तीनों लोक प्रकाशित हैं । जिस तरह प्रत्येक पदार्थके साथ उसकी छाया रहती है उसी तरह इस अग्निके साथ यह सारा जगत् रहता है ॥ ८ ॥

हे अग्ने ! तुझसे सुरक्षित होकर हम अपने घोड़ों, मनुष्यों और वीरोंसे शत्रुओंका नाश करें ताकि हमारे पुत्र अपने सम्पत्तिके स्वामी होकर अनेक वर्षोंतक उनका उपभोग करते रहे ॥ ९ ॥

इस अग्रणीके स्तोत्र द्वारा प्रसन्न करनेसे पुष्टिकारक अन्न और अपार धनकी प्राप्ति होती है ॥ १० ॥

हे अग्ने ! तू हिंसा रहित कार्यमें ही जा और समीप अथवा दूरसे मनुष्योंकी प्रार्थनाओंको सुन ॥ १ ॥

२४ (ऋ. सु. भाष्य)

(१८६)

ऋग्वेदका सुबोध भाष्य

- ८३८ यः स्नीहितीषु पूव्यः संजग्मानासु कृष्टिषु । अरक्षद् दाशुषे गयम् ॥ २ ॥
 ८३९ उत ब्रुवन्तु जन्तव उदग्निर्वृत्रहाजनि । धनंजयो रणे रणे ॥ ३ ॥
 ८४० यस्य दूतो असि क्षये वेपि हव्यानि वीतये । दस्मत् कृणोष्यश्चरम् ॥ ४ ॥
 ८४१ तमित् सुहव्यमङ्गिरः सुदेवं सहसो यहो । जना आहुः सुवर्हिषम् ॥ ५ ॥
 ८४२ आ च वहासि ताँ इह देवाँ उप प्रशस्तये । हव्या सुश्चन्द्र वीतये ॥ ६ ॥
 ८४३ न योरुपब्दिदरश्व्यः शृण्वे रथस्य कच्चन । यदग्ने यासि दूत्यम् ॥ ७ ॥

अर्थ— [८३८] (यः पूव्यः) जो अग्नि चिरन्तनकालसे (स्नीहितीषु कृष्टिषु संजग्मानासु) हिंसक स्वभाव-
 वाले प्रजाओंके एकत्र होनेपर (दाशुषे गयं अरक्षत्) दान देनेवाले यजमानके धनकी रक्षा करता है, उसका हम स्तवन
 करें ॥ २ ॥

१ स्नीहितीषु कृष्टिषु संजग्मानासु दाशुषे गयं अरक्षत्— हिंसक मनुष्योंके एकत्रित होनेपर दाताके
 घरकी रक्षा करना चाहिए ।

[८३९] (वृत्रहा रणे रणे धनंजयः) वृत्रको मारनेवाला तथा प्रत्येक संग्राममें शत्रुओंके धनको जीतनेवाला
 जो (अग्निः उत् अजनि) यह अग्नि प्रकट हुआ है, (जन्तवः ब्रुवन्तु) उस अग्निकी सब प्राणी स्तुति करें ॥ ३ ॥

[८४०] हे अग्ने ! तू (यस्य क्षये) जिस यजमानके यज्ञगृहमें (दूतः असि) दूत होता है और (हव्यानि
 वीतये वेपि) हव्योंको देवोंके निमित्त भक्षण करनेके लिये ले जाता है उस समय तू (अध्वरं दस्मत् कृणोषि) यज्ञको
 सबके लिये दर्शनीय बना देता है ॥ ४ ॥

१ अध्वरं दस्मत् कृणोति— सब लोग हिंसा रहित कर्मको उत्तमतासे करें ।

[८४१] (सहसः यहो अङ्गिरः) बलके पुत्र अङ्गिरा नामवाले अग्ने ! तू (तं इत्) उसीको (सुहव्यं,
 सुदेवं, सुवर्हिषं) सुन्दरहविसे युक्त, सुन्दर देवताओंसे तथा सुन्दर यज्ञसे पूर्ण करता है ऐसा (जनाः आहुः) सारे
 मनुष्य कहते हैं ॥ ५ ॥

[८४२] हे (सुश्चन्द्र) उत्तम तेजस्वी अग्ने ! (इह प्रशस्तये) इस यज्ञमें स्तुति ग्रहण करनेके लिये और
 (हव्या वीतये) हवि भक्षण करनेके लिए (तान् देवान् उप आ वहासि) उन दिव्यगुण सम्पन्न देवोंको हमारे
 समीप ले आ ॥ ६ ॥

[८४३] हे (अग्ने) अग्ने ! (यत् कत् चन दूतं यासि) जिस समय तू कभी भी देवोंका दूत बन कर जाता
 है उस समय (योः रथस्य अश्व्यः उपब्दि) तेरे जाते हुये रथके घोड़ोंका शब्द भी (न शृण्वे) नहीं सुनाई देता ॥ ७ ॥

भावार्थ— यह अग्नि आपत्तिके समय उदार चित्तवालोंके घरकी रक्षा करता है ॥ २ ॥

संग्राममें शत्रुओंको मारकर उनके धनको जीतकर लानेवाले इस अग्निका लोग जयघोष करें ॥ ३ ॥

जिन लोगोंके सत्कर्ममें यह अग्नि सहायक होता है उनके उन कर्मोंका योग्य भाग विद्वानोंको मिलता है और उनके
 सभी सत्कार्य उत्तम और प्रशंसाके योग्य होते हैं ॥ ४ ॥

विद्वानोंका यह कहना है कि सत्कर्म करनेवाला ही उत्तम हविसे, देवोंकी भक्ति और सुन्दर यज्ञसे युक्त
 होता है ॥ ५ ॥

यज्ञ—अग्नि यज्ञमें स्तुति और हविको ग्रहण करनेके लिए देवोंको बुलाकर लाता है ॥ ६ ॥

यह अग्नि जब भी दौत्यकर्म करने जाता है तो सारा काम बड़ी ही गुप्ततासे करता है कि उसके रथकी आवाज भी
 नहीं सुनाई देती ॥ ७ ॥

ऋग्वेदका सुबोध भाष्य

(१८७)

८४४ त्वोतो वाज्यह्वयो ऽभि पूर्वस्मादपरः । प्र दाश्वौ अग्ने अस्थात्	॥ ८ ॥
८४५ उत द्युमत् सुवीर्यं बृहदग्ने विवाससि । देवेभ्यो देव दाशुषे	॥ ९ ॥

[७५]

(ऋषिः— गोतमो राह्वणः । देवता— अग्निः । छन्दः— गायत्री ।)

८४६ जुषस्व सप्रथस्तमं वचो देवप्सरस्तमम् । हव्या जुह्वान आसनि	॥ १ ॥
८४७ अथा ते अङ्गिरस्तमाग्ने वेधस्तम प्रियम् । वोचेम ब्रह्म सानसि	॥ २ ॥
८४८ कस्ते जामिर्जनाना मग्ने को दाश्वध्वरः । को ह कस्मिन्नसि श्रितः	॥ ३ ॥
८४९ त्वं जामिर्जनाना मग्ने मित्रो असि प्रियः । सखा सखिभ्य ईड्यः	॥ ४ ॥

॥ अर्थ— [८४४] हे (अग्ने) अग्ने ! (दाश्वान् त्वोतः) दान करनेवाला तेरे द्वारा रक्षित होकर (वाजी अह्वयः) बलवान् बना और हीनताकी भावनासे मुक्त हुआ, तब (पूर्वस्मात् अपरः प्र अस्थात्) निकृष्ट अवस्थासे उच्च अवस्थाको प्राप्त हुआ ॥ ८ ॥

१ दाश्वान् त्वा ऊतः वाजी अह्वयः पूर्वस्मात् अपरः अस्थात्— दाता अग्निसे सुरक्षित होकर बलवान् बनता और हीनताकी भावनासे छूटकर निकृष्ट अवस्थासे उच्च अवस्थाको प्राप्त होता है ।

[८४५] हे (देव अग्ने) दिव्यगुण युक्त अग्ने ! तू (देवेभ्यः दाशुषे) देवोंको हवि प्रदान करनेवालेके लिये (बृहत्, द्युमत्, सुवीर्यं उत विवाससि) बहुत, अतिशय दोसिमान् और वीर्यशाली धन देता है ॥ ९ ॥

[७५]
[८४६] हे अग्ने ! (आसनि हव्या जुह्वानः) सुखमें हवियोंको ग्रहण करता हुआ हमारे द्वारा (देवप्सरस्तमं सप्रथस्तमं वचः) देवताओंके अत्यन्त प्रख्यात स्तोत्रको (जुषस्व) स्वीकार कर ॥ १ ॥

[८४७] हे (अङ्गिरस्तम वेधस्तम अग्ने) अंग रसकी विद्या जाननेवालोंमें श्रेष्ठ और मेधावियोंमें वरिष्ठ अग्ने ! (अथ ते सानसि) अनन्तर हम तेरे ग्रहण करने योग्य, (प्रियं ब्रह्म वोचेम) प्रसन्नतादायक स्तोत्र कहें ॥ २ ॥

[८४८] (अग्ने जनानां ते कः जामिः) हे अग्ने ! मनुष्योंमें तेरा बन्धु कौन है ? (कः दाशु अध्वरः) दान पूर्वक तेरा यज्ञ कौन करता है ? (कः ह) तू कौन है ? तथा (कस्मिन् श्रितः असि) किसके आश्रित है ? ॥ ३ ॥

[८४९] हे (अग्ने त्वं जनानां जामिः असि) अग्ने ! तू सब मनुष्योंका बन्धु है । (प्रियः मित्रः) उनका प्रिय मित्र है, (सखिभ्यः ईड्यः सखा) और मित्रोंके लिए तू प्रशंसनीय मित्र है ॥ ४ ॥

भावार्थ— यह अग्नि दाताओंको बलवान् बनाकर अच्छी स्थितिमें पहुँचाता है ॥ ८ ॥

देवोंके लिए जो हविका अर्पण करते हैं उनको यह अग्नि सर्वश्रेष्ठ बनाता है । यज्ञ न करनेवाले तेज रहित हो जाते हैं ॥ ९ ॥

जो उत्तम अग्रणी हो वही जनतामें मुख्य रूपसे सत्कारके योग्य है । उसीकी सब प्रशंसा करें ॥ १ ॥

यह अग्रणी अंग प्रत्यंगोंमें जीवन रसकी समृद्धि करनेवाला तथा बुद्धिमानोंमें सर्वश्रेष्ठ है । ऐसे अग्रणीकी प्रशंसा अवश्य करनी चाहिए ॥ २ ॥

इस अग्रणीका भाई और मित्र आदि कौन है, कौन इसकी पूजा करता है । यह किसके सहारे रहता है ? इन सब बातोंका पता लगाना चाहिए ॥ ३ ॥

यह अग्रणी सबका हितकारी मित्र है, यह अपने अनुयायियोंपर स्नेह करता है अतः इसके मित्र भी इसकी भरपूर प्रशंसा करते हैं ॥ ४ ॥

(१८८)

ऋग्वेदका सुबोध भाष्य

८५० यज्ञां नो मित्रावरुणा यज्ञां देवाँ ऋतं बृहत् । अग्ने यक्षि स्वं दमम् ॥ ५ ॥

[७६]

(ऋषिः— गोतमो राहगणः । देवता— अग्निः । छन्दः— त्रिष्टुप् ।)

८५१ का त उपेतिर्मनसो वराय भुवदग्ने शंतमा का मनीषा ।
को वा यज्ञैः परि दक्षं त आप केन वा ते मनसा दाशेम ॥ १ ॥

८५२ एह्यग्र इह होता नि षीदादब्धः सु पुरेता भवा नः ।
अवतां त्वा रोदसी विश्वमिन्वे यज्ञां महे सौमनसाय देवान् ॥ २ ॥

८५३ प्र सु विश्वान् रक्षसो धक्ष्यग्ने भवा यज्ञानामभिशस्तिपावा ।
अथा वह सोमपतिं हरिभ्यामातिथ्यमस्यै चक्रमा सुदानै ॥ ३ ॥

अर्थ— [८५०] हे (अग्ने नः मित्रावरुणा यज) अग्ने ! तू हमारे लिये मित्र और वरुण नामके देवोंकी पूजा कर । तथा (देवान् यज) इन्द्रादि देवोंकी पूजा कर । और (बृहत्, ऋतं, स्वं दमं यक्षि) विशाल यज्ञका सम्पादन कर और अपने गृहमें यज्ञ कर ॥ ५ ॥

[७६]

[८५१] (अग्ने ते मनसा वराय) हे अग्ने ! तेरे मनको प्रसन्न करनेका (का उपेतिः भुवत्) क्या उपाय है ? (का मनीषा शंतमा) कौनसी स्तुति तुझे सुख देगी ? (कः वा यज्ञैः दक्षं आप) कौन यजमान यज्ञसे तेरा बल प्राप्त कर सकता है ? (ते केन मनसा दाशेम) हम तुझे किस मनसे द्रव्य प्रदान करें ? ॥ १ ॥

[८५२] हे (अग्ने इह एहि होता निसीद) अग्ने ! इस यज्ञमें आ और होता रूपसे विराज । तू (नः अदब्ध पुरेता सु भव) हमारा आलस्यसे रहित होकर अग्रणी बन । (विश्वमिन्वे रोदसी त्वा अवतां) सर्व व्यापक आकाश और पृथ्वी तेरी रक्षा करें । तू (महे सौमनसाय देवान् यज) हमको महान् प्रसाद प्राप्त करनेके लिये देवोंकी पूजा कर ॥ २ ॥

१ महे सौमनसाय देवान् यज— उत्तम मनकी प्राप्तिके लिए देवोंके मार्गपर चलना ही एक मात्र उपाय है ।

[८५३] (अग्ने विश्वान् रक्षसः प्र सु धक्षि) हे अग्ने ! सम्पूर्ण राक्षसोंको अच्छी प्रकार जला दे । (यज्ञानां अभिशस्तिपावा भव) यज्ञको हिंसकोंसे चारों ओरसे बचा । (अथ सोमपतिं हरिभ्यां आचह) अनन्तर सोमका पान करनेवाले इन्द्रको अथों सहित इस यज्ञमें ले आ । हम (अस्मै सुदानै आतिथ्यं चक्रम) इस उत्तम दाता इन्द्रका आतिथ्य सत्कार करें ॥ ३ ॥

भावार्थ— मित्र और वरणीय श्रेष्ठ जनोंका सत्कार करना चाहिए । उत्तम गुणोंसे युक्त विद्वानोंकी सेवा करनी चाहिए । इस प्रकार प्रथम अपने घरमें संवदनका कार्य करके राष्ट्रके संवदनका कार्य करना चाहिए ॥ ५ ॥

हे अग्रणी देव ! तू किस प्रकार हमपर प्रसन्न होगा । वह उपाय बता ॥ १ ॥

हमारा नेता हमेशा आगे रहकर सबका यथायोग्य संचालन करनेवाला हो तथा कभी किसीसे न दुबे या आलस्य न करे ॥ २ ॥

यह अग्नि रक्षक है । सभी हिंसक वृत्तिवालोंको यह नष्ट कर देता है । यह इन्द्रको बुलाकर लाता है अतः यह सत्कार के योग्य है ॥ ३ ॥

८५४ प्रजावता वचसा वह्निरासा ऽऽ च हुवे नि च सत्सीह देवैः ।

वेषि होत्रमुत पात्रं यजत्र बोधि प्रयन्तर्जनितर्वक्षन्नाम्

॥ ४ ॥

८५५ यथा विप्रस्य मनुषो हविर्भिर्देवा अयजः कविभिः कविः सन् ।

एवा होतः सत्यतर त्वमद्या भै मन्द्रया जुह्वा यजस्व

॥ ५ ॥

[७७]

(ऋषिः— गोतमो राहगणः । देवता— अग्निः । छन्दः— त्रिष्टुप् ।)

८५६ कथा दाशेमाग्नये कास्मै देवजुष्टोच्यते भामिने गीः ।

यो मर्त्येष्वमृतं ऋतावा होता यजिष्ठ इत् कृणोति देवान्

॥ १ ॥

८५७ यो अध्वरेषु शंतम ऋतावा होता तमू नमोभिरा कृणुष्वम् ।

अग्निर्यद् वेर्मतीय देवा न्तस चा बोधाति मनसा यजाति

॥ २ ॥

अर्थ— [८५४] (आसा वह्निः) मुख द्वारा हव्य ग्रहण करनेवाले अग्निको (प्रजावता वचसा आ च हुवे) पुत्रादियोंको देनेवाले स्तोत्रोंसे मै बुलाता हूँ । हे (यजत्र ! इह देवैः नि सत्सि) यजनीय अग्ने ! तू इस यज्ञकर्ममें देवोंके साथ आकर बैठ (च होत्रं उत पोत्रं वेषि) और हवनके तथा पवित्रताके कामको कर । तू (वसूनां प्रयन्तः जनितः बोधि) धनोंका नियामक और जन्मदाता होकर हमें ज्ञानवान् कर ॥ ४ ॥

१ वसूनां प्रयन्तः जनितः बोधि— तू धनोंका नियामक और उत्पादक होकर हमें ज्ञानवान् कर ।

[८५५] हे (अग्ने) अग्ने ! तू (कविभिः कविः सन्) मेधावियोंके साथ मेधावी बन कर, (विप्रस्य मनुषः हविर्भिः) ज्ञानी मनुष्यकी हवियोंसे (यथा देवान् अयजः) देवोंके समान पूजित हो (होताः सत्यतर, त्वं अद्य) होमके कर्ता, तथा सत्यस्वरूप अग्ने ! तू आज हमारे इस यज्ञ कर्ममें (मन्द्रया जुह्वा यजस्व) देवोंके आनन्ददायक चमचेसे आहुति ग्रहण कर और देवोंकी पूजा कर ॥ ५ ॥

१ कविः सन् कविभिः यजस्व— स्वयं ज्ञानी बनकर ज्ञानियोंके साथ प्रशस्त कर्म कर ।

[७७]

[८५६] (यः) जो (अमृतः, ऋतावा, होता यजिष्ठः) अमर, सत्यवान्, देवोंको बुलानेवाला और यज्ञोंका सस्पादन करनेवाला है । जो (मर्त्येषु देवान् इत् कृणोति) मनुष्योंके बीच रहकर देवोंकी हवियोंसे युक्त करता है । ऐसे (अस्मै अग्नये कथा दाशेम) इस अग्निके लिये हम हवि कैसे प्रदान करें ? अथवा (भामिने देवजुष्टा गीः का उच्यते) तेजस्वी, सब देवताओंसे पूजित अग्निके लिए कौनसी स्तुति कहें ? ॥ १ ॥

[८५७] (यः अध्वरेषु) जो अग्नि यज्ञोंमें (शंतमः, ऋतावा, होता) अत्यन्त सुखकारी, यथार्थदर्शी और देवोंका बुलानेवाला है ; (तं उ नमोभिः आकृणुष्वं) उस अग्निका हे लोगो ! स्तोत्रोंसे सत्कार करो । (यत् अग्निः मर्तीय देवान् वेः) जब यह अग्नि मनुष्योंके हित करनेके लिये देवताओंके पास जाता है, उस समय (सः बोधाति च मनसा यजाति) वह सब कुछ जानता है, और जानकर मनसे उन देवोंकी पूजा करता है ॥ २ ॥

१ मर्तीय देवान् वेः— यह अग्रणी मनुष्योंका हित करनेके लिए दिव्य ज्ञानियोंकी सहायता लेता है ।

भावार्थ— यह अग्नि सबके द्वारा बुलाया जाता है । आते हुए अपने साथ अन्य देवोंको भी बुलाकर लाता है । यह मनुष्योंको उत्पन्न कर उन्हें धन और ज्ञानसे युक्त करता है ॥ ४ ॥

ज्ञानियोंके साथ मिलकर हमेशा उत्तम कर्म ही करने चाहिए । तथा अपनी बुद्धिसे देवोंकी पूजा करनी चाहिए ॥ ५ ॥ यह अग्नि मानव शरीरोंमें दिव्य देवों— इन्द्रियोंको लाकर बसाता है और इस शरीरमें अग्नि शतसांस्कारिक यज्ञ शुरु करता है । ऐसे इस श्रेष्ठ अग्निकी पूजाका मार्ग क्या है, यह जानना चाहिए ॥ १ ॥

यह अग्रणी छल, हिंसा आदिसे रहित कामोंको पूर्ण करता है यह सर्वज्ञ है अतः मनुष्योंके मनकी बातोंको भी जानता हुआ उनकी सहायता करता है अतः यह सत्कारके योग्य है ॥ २ ॥

(१९०)

ऋग्वेदका सुबोध भाष्य

- ८५८ स हि क्रतुः स मर्यः स साधु—मित्रो न भूदद्भुतस्य रथीः ।
तं मेघेषु प्रथमं देवयन्ती—विश उप ब्रुवते दुस्मारीः ॥ ३ ॥
- ८५९ स नो नृणां नृतमो रिशादा अग्निगिरोऽवसा वेतु धीतिम् ।
तना च ये मघवानः शर्विष्ठा वाजप्रसूता इषयन्त मन्म ॥ ४ ॥
- ८६० एवाग्निर्गोतमेभिर्ऋतावा विप्रेभिरस्तोष्ट जातवेदाः ।
स एषु द्युम्नं पीपयत् स वाजं स पुष्टिं याति जोषमा चिकित्वान् ॥ ५ ॥

[७८]

(ऋषिः— गोतमो राहूगणः । देवता— अग्निः । छन्दः— त्रिष्टुप् ।)

- ८६१ अभि त्वा गोतमा गिरा जातवेदो विचर्षणे । द्युम्नैरभि प्र णोनुमः ॥ १ ॥

अर्थ— [८५८] (स हि क्रतुः) यह अग्नि निश्चयसे कर्मशील है। (सः साधुः स मर्यः) वह संसारका उत्पादक और वही उपसंहारक है। (सः मित्रः न) वह मित्रकी तरह सहायक है (अद्भुतस्य रथीः भूत्) वह ही दिव्य रथपर चढ़नेवाला वीर है। (मेघेषु देवयन्तीः विशः) यज्ञोंमें देवाभिजायी प्रजापति (तं दुस्मं आरिः प्रथमं उप ब्रुवते) उस दर्शनीय अग्निके समीप जाकर उत्तम स्तुति करती हैं ॥ ३ ॥

१ मर्यः— संहारक 'मृङ् प्राणत्यागे' ।

२ अद्भुतस्य रथीः— वह अग्नि इस शरीररूपी विचित्र रथका रथी स्वामी है ।

[८५९] (अग्निः नृणां नृतमः रिशादाः) अग्नि मनुष्योंके बीचमें उत्कृष्ट नेता और शत्रुओंका विनाशक है। (सः नः गिरः अवसा धीतिं वेतु) वह हमारी स्तुतिको स्वीकार करता हुआ अपने संरक्षणके साधनोंसे युक्त होकर बुद्धिपूर्वक किए गए हमारे कर्मको जाने (च ये, तना मघवानः) और जो यजमान धनसे अत्यधिक धनशाली और (शर्विष्ठाः) बलशाली हैं तथा (वाजप्रसूताः, मन्म, इषयन्त) अन्नसे हवि प्रदान करके स्तुति करते हैं उनकी स्तुति सुने ॥ ४ ॥

१ सः अवसा धीतिं वेतु— वह हमारी रक्षा करके हमें उत्तम बुद्धि प्राप्त करावे ।

[८६०] (ऋतावा जातवेदाः अग्निः) सत्यनिष्ठ सर्वज्ञ अग्नि (विप्रेभिः गोतमेभिः अस्तोष्ट) मेधावी गोतमोंसे प्रशंसित हुआ। (सः एषु द्युम्नं पीपयत्) उसने उनमें बैठकर प्रकाशमान् सोमरसका पान किया। तथा (सः वाजं) उसने हवि युक्त अन्नका भी भक्षण किया। इस प्रकार (सः जोषं चिकित्वान् पुष्टिं याति) वह अग्नि हमारी सेवाओंको जानकर पुष्टिको प्राप्त करे ॥ ५ ॥

[७८]

[८६१] हे (जातवेदः विचर्षणे) सर्वज्ञ और सर्व द्रष्टा अग्ने। (गोतमाः त्वा गिर अभि) गोतम वंशमें उत्पन्न हम तेरा वाणियोंसे (द्युम्नैः अभि प्र णोनुमः) और उज्ज्वल स्तोत्रोंसे बारबार सत्कार करते हैं ॥ १ ॥

भावार्थ— वह कर्मशील अग्नि इस संसारका उत्पादक एवं संहारक है। वह सब प्राणियोंका सहायक है। इसलिए सब प्रजाएं उसीकी स्तुति करती हैं ॥ ३ ॥

यह अग्नि उत्तम नेता तथा शत्रुओंका विनाशक है। अतः यह हमारी सुरक्षा करके हमें उत्तम बुद्धि दे ताकि हम सत्कर्म करते हुए इसकी स्तुति कर सकें ॥ ४ ॥

वह (गो—तम) उत्तम अर्थात् संयमी इन्द्रियोंवाले ज्ञानियोंमें बैठ कर आनन्द प्राप्त करता है। अर्थात् संयमी लोगों के शरीरोंमें अग्नि चिरकाल तक आनन्दसे रहता है ॥ ५ ॥

इस सर्वज्ञ और सर्व द्रष्टा अग्निका सत्कार सबको करना चाहिए ॥ १ ॥

ऋग्वेदका सुबोध भाष्य

(१९१)

८६२ तमु त्वा गोतमो गिरा रायस्कामो दुवस्यति । द्युम्नैरभि णोनुमः	॥ २ ॥
८६३ तमु त्वा वाजसातमं मङ्गिरस्वद्वामहे । द्युम्नैरभि णोनुमः	॥ ३ ॥
८६४ तमु त्वा वृत्रहन्तमं यो दस्यूरवधूनुषे । द्युम्नैरभि णोनुमः	॥ ४ ॥
८६५ अवोचाम रहुगणा अग्रये मधुमद्वचः । द्युम्नैरभि णोनुमः	॥ ५ ॥

[७९]

(ऋषिः— गोतमो राहुगणः । देवता— १-३ अग्निः मध्यमोऽग्निर्वा; ४-१२ अग्निः ।

छन्दः— १-३ त्रिष्टुप्; ४-६ उष्टिणक्; ७-१२ गायत्री ।)

८६६ हिरण्यकेशो रजसो विसारे ऽहिर्धुनिर्वात इव ध्रजिमान् ।	
शुचिभ्राजा उषसो नवेदा यशस्वतीरपस्युवो न सत्याः	॥ १ ॥
८६७ आ ते सुपर्णा अभिनन्त एवैः कृष्णो नोनाव वृषभो यदीदम् ।	
शिवाभिर्न स्मयमानाभिरागात् पतन्ति मिहः स्तनयन्त्यभ्रा	॥ २ ॥

अर्थ— [८६२] हे अग्ने ! (रायस्कामः गोतमः त्वा) धनकी कामनासे गोतम तेरी (गिरा दुवस्यति) स्तोत्रों द्वारा सेवा करता है उस (तमु द्युम्नैः अभि प्र णोनुमः) तेरी उज्ज्वल स्तोत्रोंसे हम भी बारबार स्तुति करते हैं ॥ २ ॥

[८६३] (आङ्गिरस्वत्) अङ्गिराओंके समान (वाजसातमं त्वा हवामहे) बहुत सारा धन देनेवाले तेरा हम आह्वान करते हैं और (तमु द्युम्नैः अभि प्र णोनुमः) तेरी उज्ज्वल स्तोत्रोंसे पूजा करते हैं ॥ ३ ॥

[८६४] हे अग्ने ! (यः दस्यूर्वधूनुषे) जो तू राक्षसोंको कैपाता है, (तं वृत्रहन्तमं) उस वृत्रके नाशक (त्वा) तेरी हम (द्युम्नैः अभि प्र णोनुमः) उज्ज्वल मन्त्रोंसे बारबार स्तुति करते हैं ॥ ४ ॥

[८६५] (रहुगणः) रहुगणके वंशमें उत्पन्न हमने (अग्रये मधुमद्वचः अवोचाम) अग्निके लिये मधुर स्तुतियाँ की, अब उसी अग्निकी (द्युम्नैः अभि प्र णोनुमः) प्रकाशित मन्त्रोंसे बारबार स्तुति करते हैं ॥ ५ ॥

[७९]

[८६६] (हिरण्यकेशः अहिः धुनिः) सुवर्णकेश अर्थात् तेजस्वी ज्वालावाला, हननशील मेघको कम्पित करनेवाला, (वातः इव ध्रजिमान्) वायुकी तरह शीघ्र गतिवाला तथा (शुचिभ्राजाः रजसः विसारे) शोभन दीप्तिसे युक्त यह अग्नि लोकोंके विस्तारमें निपुण है (यशस्वतीः अपस्युवः सत्याः न) पर यशसे युक्त, निज कार्य परायण और सरल स्वभाववाली स्त्री (उषसः न वेदाः) उषायें इस बातको नहीं जानती ॥ १ ॥

[८६७] हे अग्नि ! जब (ते सुपर्णाः एवैः आ अभिनन्त) तेरी सुन्दर और पतनशील किरणोंने अपनी शक्तियोंसे सब दिशाओंमें मेघोंको ताडित किया, तब (कृष्णः वृषभः नोनाव) कृष्ण वर्णवाले वर्षणशील मेघ गर्जने लगे । (यदि इदं, स्मयमानाभिः शिवाभिः न आ, आगात्) जब इस प्रकारका कार्य होता है, उस समय हास्य युक्त सुखकर बिजलियोंसे युक्त होकर यह मेघ आता है तब (मिहः पतन्ति, अभ्रा स्तनयन्ति) जलकी बूँदें गिरती हैं, और बादलोंके समूह गर्जते हैं ॥ २ ॥

भावार्थ— धनकी इच्छा करनेवालोंको चाहिए कि वे अग्नि देवकी पूजा करें ॥ २ ॥

अंगरस अर्थात् शरीरके अंगोंमें प्रवाहित होनेवाले रसकी विद्याके ज्ञाता इस अग्निका महत्त्व जानकर इसकी सेवा करते हैं ॥ ३ ॥

यह अग्रणी हतना बलवान् है कि इससे डरकर शत्रु कांपते हैं । यह वृत्र अर्थात् रोगोंका भी नाशक है ॥ ४ ॥

रहु वंशमें उत्पन्न लोगोंने जिस प्रकार उसकी स्तुति की, उसी प्रकार सब मनुष्य उसकी स्तुति करें ॥ ५ ॥

यह अग्नि उषाओंके लिए अन्तरिक्षको विस्तृत करता है, उषायें इसको नहीं जानती ॥ १ ॥

इस अग्निकी शक्तिसे ताडित होकर मेघ गर्जता है, उसमें बिजलियोंके उत्पन्न होनेके कारण धुवांधार वृष्टि होती है । इसमें वृष्टि-विज्ञानका वर्णन है ॥ २ ॥

८६८	यदीमृतस्य पर्यसा पियानो नयन्नृतस्य पथिभी रजिष्ठैः ।	
	अर्यमा मित्रो वरुणः परिज्मा त्वचं पृञ्चन्त्युपरस्य योनौ	॥ ३ ॥
८६९	अग्ने वाजस्य गोमत ईशानः सहसो यहो । अस्मे धेहि जातवेदो महि श्रवः	॥ ४ ॥
८७०	स इधानो वसुष्कविः अग्निरीलैन्यो गिरा । रेवदुस्मभ्यं पूर्वणीक दीदिहि	॥ ५ ॥
८७१	क्षपो राजन्नुत तमना—अग्ने वस्तोरुतोषसः । स तिग्मजम्भ रक्षसो दह प्रति	॥ ६ ॥
८७२	अवा नो अग्र ऊतिभिः गायत्रस्य प्रभर्मणि । विश्वासु धीषु वन्द्य	॥ ७ ॥
८७३	आ नो अग्ने रयि भर सत्रासाहं वरेण्यम् । विश्वासु पृत्सु दुष्टरम्	॥ ८ ॥

अर्थ— [८६८] (यत् ईं ऋतस्य पर्यसा पियानः) जिस समय मेव वृष्टिके रससे संसारको पुष्ट करता हुआ (ऋतस्य रजिष्ठैः पथिभिः नयन्) जलको सरलतम मार्गसे ले जाता है, उस समय (अर्यमा, मित्रः, वरुणः परिज्मा) अर्यमा, मित्र, वरुण और चारों ओर जानेवाले मरुद्गण (उपरस्य, योनौ त्वचं पृञ्चन्ति) मेघकी उत्पत्ति स्थानमें उसकी त्वचाको जलसे भर देते हैं ॥ ३ ॥

[८६९] (सहसः यहो अग्ने) हे बलके पुत्र अग्ने ! तू (गोमतः वाजस्य ईशानः) गौसे युक्त अन्नका स्वामी है अतः (जातवेदः अस्मे महि श्रवः धेहि) हे सब उत्पन्न प्राणियोंका ज्ञाता ! तू हमें भरपूर अन्न प्रदान कर ॥ ४ ॥

१ सहसः यहुः— बलका पुत्र यह अग्रणी बलके कार्यके लिए जन्मा है ।

[८७०] (सः इधानः वसुः कविः अग्निः) वह प्रकाशमान धनोंका ईश्वर, मेघाधी अग्नि (गिरा ईलेन्यः) उत्तम वाणिज्यसे स्तुतिके योग्य है । हे (पूर्वणीक अस्मभ्यं रेवत् दीदिहि) बहुत ज्वालाओंवाले अग्ने ! हमें भरपूर धन देवा हुआ तू प्रज्ज्वलित हो ॥ ५ ॥

[८७१] हे (राजन् तिग्मजम्भ अग्ने) हे प्रकाशमान और तीक्ष्ण दाढ़वाले अग्ने ! (सः) वह प्रसिद्ध तू (क्षयः) शत्रुओंका नाश कर तथा (वस्तोः उत उपसः) रात्री दिवस और उषःकालमें (तमना उत रक्षसः प्रति दह) स्वयं दैत्योंको भस्म कर ॥ ६ ॥

रक्षसः— क्षर-सः— शरीरको क्षीण करनेवाले रोग जन्तु ।

[८७२] हे (विश्वासु धीषु वन्द्य अग्ने) सम्पूर्ण बुद्धिके कर्मोंमें पूज्य अग्ने ! (गायत्रस्य प्रभर्मणि) हमारे द्वारा गायत्री स्तोत्र निवेदन करनेपर (ऊतिभिः नः अवा) अपने रक्षाके साधनोंसे हमारी रक्षा कर ॥ ७ ॥

गायत्री गायकं त्रायति इति गायत्री— यह अपने गानेवालेकी रक्षा करती है ।

[८७३] हे (अग्ने) अग्ने ! तू (नः) हमारे लिये (सत्रासाहं विश्वासु पृत्सु दुष्टरं) शत्रुओंके विनाशक, सम्पूर्ण संग्रामोंमें शत्रुओंसे जीतनेमें अशक्य और (वरेण्यं, रयि) श्रेष्ठ धनको (आभर) सब ओरसे भरपूर प्रदान कर ॥ ८ ॥

भावार्थ— मेघ अपने जलसे संसारको पुष्ट करते हैं और सरलतासे अपने जलोंको देते हैं अर्यमा, मित्र (सूर्य) और वरुण (समुद्र) तथा मरुद्गण (वायु) इससे मेघको फिर भर देते हैं ॥ ३ ॥

यह अग्रणी स्वयं अन्नका स्वामी होकर दूसरोंको भी अन्न प्रदान करता है ॥ ४ ॥

विशेष तेजस्वी और धनोंका स्वामी यह अग्रणी अपने धनोंको बांटता है, इसलिए यह प्रशंसाके योग्य है ॥ ५ ॥

उषःकाल तथा दिनके समय अन्नको जलाने अर्थात् हवन करनेसे शरीरको क्षीण करनेवाले सारे रक्षस जल जाते हैं ॥ ६ ॥

यह अग्रणी अपने उपासकोंकी हर तरफसे रक्षा करता है ॥ ७ ॥

यह अग्रणी शत्रुओंके नाशके लिए अपने भक्तोंको धन देता है ॥ ८ ॥

- ८७४ आ नो अग्रे सुचेतुना रयि विश्वायुपोषसम् । मर्दीकं धेहि जीवसे ॥ ९ ॥
 ८७५ प्र पूतास्तिग्मशोचिषे वाचो गोतमाग्रये । भरस्व सुम्नयुगिरः ॥ १० ॥
 ८७६ यो नो अग्रेऽभिदासत्यन्ति दूरे पदीष्ट सः । अस्माकमिदं वृधे भव ॥ ११ ॥
 ८७७ सहस्राक्षो विचर्षणि-रग्नी रक्षांसि सेधति । होता गृणीत उक्थ्यः ॥ १२ ॥

[८०]

(ऋषिः— गोतमो राहूगणः । देवत— इन्द्रः (अथर्वा, मनुः दध्यङ् च) । छन्दः— पंक्तिः ।)

८७८ इत्था हि सोम इन्मदे ब्रह्मा चकार वर्धनम् ।

शविष्ठ वज्रिन्नोजसा पृथिव्या निः शशा अहि—मर्चन्नुं स्वराज्यम् ॥ १ ॥

अर्थ— [८७४] हे (अग्रे) अग्रे ! (वः जीवसे) हमारे दीर्घ जीवनके लिये (सुचेतुना मर्दीकं विश्वायु-पोषसं) सुन्दर ज्ञानसे युक्त सुख देनेवाले और सम्पूर्ण आयुको पुष्ट करनेवाले (रयि आ धेहि) धनको सब ओरसे प्रदान कर ॥ ९ ॥

[८७५] हे (गोतम) गोतम ! (सुम्नयुः तिग्मशोचिषे अग्रये) कल्याणकी इच्छा करनेवाला तू तीक्ष्णसे तीक्ष्ण ज्वालावाले अग्निके लिये (पूताः वाचः गिरः प्रभरस्व) पवित्र वचनोंवाली स्तुतियाँ कह ॥ १० ॥

गो-तम— उत्तम इन्द्रियोंवाला ।

[८७६] हे (अग्रे) अग्रे ! (नः अन्ति, दूरे यः अभिदासति) हमारे समीपमें अथवा दूरमें रहकर जो शत्रु हमको अपना दास बनाना चाहे, (सः पदीष्टः) वह नाशको प्राप्त हो । (अस्माकं इत् वृधे भव) तू हमारी वृद्धि करनेवाला हो ॥ ११ ॥

[८७७] (सहस्राक्षः विचर्षणिः अग्निः) सहस्रों ज्वालाओंवाला और सबका द्रष्टा अग्नि (रक्षांसि सेधति) राक्षसोंको नष्ट करता है । वह (होता, उक्थ्यः गृणीत) देवोंको बुलानेवाला वह प्रशंसनीय अग्नि प्रशंसित हो रहा है ॥ १२ ॥

[८०]

[८७८] (ब्रह्मा) ज्ञानीने (इत्था हि सोमे मदे) इस प्रकारके सोमके आनन्दमें (इत् वर्धनं चकार) इन्द्रके उत्साहका वर्धन किया । (शविष्ठ वज्रिन्) हे बल-सम्पन्न वज्रधारी इन्द्र ! (स्व-राज्यं अनु अर्चन्) तूने, स्वराज्यका आदरसत्कार करते हुए (ओजसा) अपने पराक्रमसे (अहिं पृथिव्याः निः शशाः) शत्रुको पृथ्वी परसे नष्ट कर दिया ॥ १ ॥

भावार्थ— इस अग्रणीके द्वारा दिए गए धनसे आयु दीर्घ होती है शरीर पुष्ट होता है ॥ ९ ॥

उत्तम इन्द्रियोंवाला जितेन्द्रिय मनुष्य ही इस अग्रणीकी उपासना कर सकता है और कल्याण प्राप्त कर सकता है ॥ १० ॥
 जो अग्रणीके उपासकों पर हमला करके उन्हें अपना दास बनाना चाहता है वह नाशको प्राप्त होता है ॥ ११ ॥

यह अग्रणी सर्वव्यापक होनेसे अपनी हजार आँखोंसे सबके कर्मोंको देखता है और जो राक्षसी कर्म करते हैं उन्हें नष्ट कर देता है । अपने इसी कर्मके कारण वह सर्वत्र प्रशंसित होता है ॥ १२ ॥

ज्ञानियोंने इन्द्रके बलको बढ़ाया और इन्द्रने देशकी स्वतंत्रताको खतरेमें डालनेवाले शत्रुओंको नष्ट किया और स्वराज्यको सुदृढ़ बनाया । इसी प्रकार राष्ट्रके अन्दर ज्ञानी अपने राष्ट्रका बल बढ़ानेका प्रयत्न करें, नाना साधनोंसे क्षात्र-शक्तिका संवर्धन करें । और क्षत्रिय भी देशद्रोहियोंको विनष्ट करके या उन्हें अपने अधिकारमें रखकर अपने देशकी स्वतंत्रताको अक्षुण्ण बनानेकी कोशिश करें ॥ १ ॥

२५ (ऋ. सु. भाष्य)

(१९४)

ऋग्वेदका सुबोध भाष्य

- ८७९ स त्वामदद वृषा मदः सोमः श्येनाभृतः सुतः ।
येना वृत्रं निरुद्ध्यो जघन्थ वज्रिन्नोजसा—र्चन्तु स्वराज्यम् ॥ ३ ॥
- ८८० प्रेह्यभीहि धृष्णुहि न ते वज्रो नि यंसते ।
इन्द्रं नृम्णं हि ते शवो हनो वृत्रं जया अपो ऽर्चन्तु स्वराज्यम् ॥ ३ ॥
- ८८१ निरिन्द्र भूम्या अधि वृत्रं जघन्थ निर्दिवः ।
सृजा मरुत्वतीरव जीवधन्या इमा अपो ऽर्चन्तु स्वराज्यम् ॥ ४ ॥
- ८८२ इन्द्रो वृत्रस्य दोधतः सानुं वज्रेण हीलितः ।
अभिक्रम्याव जिघ्रते ऽपः सर्माय चोदयन्—र्चन्तु स्वराज्यम् ॥ ५ ॥

अर्थ— [८७९] (वज्रिन्) हे वज्रधारी इन्द्र ! (सः श्येन-आभृतः) उस श्येन द्वारा लाये गये (सुतः वृषा मदसोमः) कूट-छानकर निचोड़े, बल बढ़ानेवाले आनन्ददायक सोमने (त्वा अमदत्) तुझे आनंदित कर दिया (येन) जिससे तूने (स्व-राज्यं अनु अर्चन्) अपने स्वराज्यका सत्कार करते हुए (ओजसा) अपने बलसे (वृत्रं अन्-भ्यः निः जघन्थ) शत्रुको मारकर उसे जलसे बाहर निकाल दिया, जल-स्थानसे दूर भगा दिया ॥ ३ ॥

[८८०] (इन्द्र) हे इन्द्र ! (प्र इहि) शत्रुके सम्मुख जा, (अभि इहि) उसे सब ओरसे घेर ले (धृष्णुहि) और उसका नाश कर दे । (ते वज्रः नि यंसते न) तेरा वज्र कभी पराभूत नहीं किया जा सकता । (स्व-राज्यं अनु अर्चन्) तू अपने स्वराज्यका सत्कार करते हुए (वृत्रं हनः) शत्रुको मार (अपः जयाः) और जलोंको जीत (ते शवः नृम्णं हि) क्योंकि तेरा बल मानवोंका हित करनेवाला है ॥ ३ ॥

[८८१] (इन्द्र) हे इन्द्र ! (स्व-राज्यं अनु अर्चन्) अपने स्वराज्यका आदरसत्कार करते हुए (भूम्याः अधि) भूमिपर (दिवः) और दिव लोकमें (वृत्रं निः निः जघन्थ) शत्रुको निःशेष होनेतक नष्ट कर । (इमाः । मरुत्वतीः जीवधन्याः अपः) तू इन वीरोंको अपने साथ रखनेवाले जीवन-धारक जलोंको (अव सृजा) बहनेके लिये छोड़ दे ॥ ४ ॥

[८८२] (इन्द्रः हीलितः) इन्द्र क्रोधमें आकर (स्व-राज्यं अनु अर्चन्) अपने स्वराज्यकी प्रेमसे पूजा करते हुए (दोधतः वृत्रस्य सानुं) प्रजाको कैपानेवाले शत्रुरूप वृत्रकी ठुड़ीपर (अभि-क्रम्य वज्रेण अव जिघ्रते) चारों ओरसे वज्रसे प्रहार करता है (सर्माय अपः चोदयन्) और बहनेके लिये जलोंको प्रेरित करता है ॥ ५ ॥

भावार्थ— राष्ट्रमें सोम अर्थात् सब तरहके धान्यका संग्रह भरपूर रहे । राष्ट्रमें सर्वत्र श्येन यज्ञ हों, श्येनयज्ञ धान्यका संवर्धक होता है, अथवा श्येन अर्थात् घोड़ों द्वारा राष्ट्रमें भरपूर धान्य लाया जाए । इस प्रकार राष्ट्रकी आन्तरिक स्थिति उत्तम हो, फिर बलसे युक्त होकर राष्ट्रको घेरनेवाले शत्रुओंको नष्ट किया जाए ॥ २ ॥

हे वीर ! आगे बढ़, हमला कर, चारों ओरसे शत्रुको घेरकर युद्ध कर । तेरे वज्रको निष्प्रभ करनेकी शक्ति किसी भी शत्रुमें नहीं है । तेरे शस्त्रका नियमन कोई भी नहीं कर सकता । तेरे सामर्थ्यका उपयोग मानवोंके हित करनेमें ही हो, तू कभी उनपर अत्याचार मत कर ॥ ३ ॥

हे वीर ! अपने देशकी और अपनी स्वतंत्रताके महत्त्वको समझ और उसकी हर तरहसे रक्षा कर । तेरे देशको दास बनानेकी इच्छा करनेवाले जो भी शत्रु इस पृथ्वीपर हों, उन्हें तू नष्ट कर दे । और अपने प्रजाके प्राणोंकी तू हर तरहसे रक्षा कर ॥ ४ ॥

हे वीर ! तेरी प्रजाओंपर अत्याचार करके उन्हें भयभीत करनेवाले शत्रुओंके उत्तम भाग पर तू आक्रमण कर और यदि शत्रुओंने तेरे देशमें बहनेवाली नदियोंके मार्गको बंद कर दिये हों, तो उन्हें तू खोल और इस प्रकार देशकी रक्षा कर ॥ ५ ॥

८८३ अधि सानौ नि जिघ्नते वज्रेण शतपर्वणा ।

॥ १ ॥ मन्दान इन्द्रो अन्धसः सखिभ्यो गातुमिच्छत्यर्चन्नु स्वराज्यम् ॥ ६ ॥

८८४ इन्द्र तुभ्यमिदं द्विषो ऽनुत्तं वज्रिन् वीर्यम् ।

॥ २ ॥ यद्ध त्वं मायिनं मृगं तमु त्वं माययावधी-रर्चन्नु स्वराज्यम् ॥ ७ ॥

८८५ वि ते वज्रासो अस्थिर-नवति नान्याऽनु ।

॥ ३ ॥ महत् तं इन्द्र वीर्यं बाह्वोस्ते बलं हित-मर्चन्नु स्वराज्यम् ॥ ८ ॥

८८६ सहस्रं साकर्मर्चत परि शोभत विशतिः ।

॥ ४ ॥ शतैनमन्वनोनवु-रिन्द्राय ब्रह्मोद्यत-मर्चन्नु स्वराज्यम् ॥ ९ ॥

अर्थ— [८८३] (मन्दानः इन्द्रः) आनन्दित हुआ इन्द्र (स्व-राज्यं अनु अर्चन्) अपने स्वराज्यकी सदा पूजा करते हुए (शत-पर्वणा वज्रेण) सैकड़ों धाराओंवाले वज्रसे (सानौ अधि नि जिघ्नते) इस वृत्रके ठुड़ीपर प्रहार करता है (सखि-भ्यः) और मित्रोंके लिये (अन्धसः गातुं इच्छति) अन्नकी प्राप्तिका मार्ग ढूँढना चाहता है ॥ ६ ॥

[८८४] (अद्रि-वः वज्रिन् इन्द्र) हे पर्वतपर रहनेवाले वज्रधारी इन्द्र ! (तुभ्यं इत् वीर्यं अनुत्तं) तेरा ही पराक्रम उत्कृष्ट है, (यत् ह त्वं) जिस कारण तूने (स्व-राज्यं अनु अर्चन्) अपने स्वराज्यकी पूजा करते हुए (तं उ त्वं मायिनं मृगं) ढूँढकर पकड़े उसे कपटी शत्रुको (मायया अवधीः) कपटसे मारा ॥ ७ ॥

[८८५] हे (इन्द्र) इन्द्र ! (ते वज्रासः) तेरे वज्र वृत्रसे घिरे हुए (नवति नान्याः अनु वि अस्थिरन्) नब्बे नावसे तरने योग्य जलके समीपके विविध स्थानोंमें ठहरे हुए थे । (ते वीर्यं महत्) तेरा पराक्रम महान् है (ते बाह्वोः बलं हितं) और तेरी भुजाओंमें बहुत बल है । (स्व-राज्यं अनु अर्चन्) इसलिये तू अपने स्वराज्यका सत्कार करते हुए उस जल-रोधक वृत्रका नाश कर ॥ ८ ॥

[८८६] हे मनुष्यो ! (सहस्रं साकं अर्चत) तुम सहस्रोंकी संख्यामें एक साथ मिलकर प्रभुकी प्रार्थना या पूजा करो । (विशतिः परि शोभत) बीसों मिलकर उस इन्द्रकी प्रशंसा करो । (शता एनं अनु अनोनवुः) सैकड़ों मिलकर इस प्रभुकी बारंबार प्रार्थना करो । (इन्द्राय ब्रह्म उत्-यतं) इन्द्रके लिये यह स्तोत्र तैयार किया है । हे इन्द्र ! (स्व-राज्यं अनु अर्चन्) अपने स्वराज्यकी पूजा करते हुए तू उसका सेवन कर ॥ ९ ॥

भावार्थ— यह इन्द्र सैकड़ों धारोंवाले वज्रसे शत्रुके सिर पर आघात करके उसे घायल करता है और अपने अनुयायियोंके लिए पर्याप्त अन्न देनेके उपाय सोचता है । इस प्रकार सदा अपनी प्रजाके हित करनेके लिए मार्ग ढूँढता रहता है । इसी प्रकार देशका राजा भी सदा देशका हित साधक हो ॥ ६ ॥

यद् इन्द्र इतना भयंकर शत्रुनाशक है कि जो इससे डरकर किसी जगह जाकर छिप भी जाए— तो भी यह उसे ढूँढ कर मारता है । इसी प्रकार जो शत्रु माया या छल कपटसे इन्द्र पर अपना अधिकार जमाना चाहता है उस छली शत्रुको इन्द्र भी छलसे ही मारता है, इस प्रकार यह इन्द्र जैसेके साथ जैसेका व्यवहार करता है । यह शत्रुनाशके समय जो अपना पराक्रम दिखाता है, वह अद्वितीय होता है ॥ ७ ॥

इस इन्द्रका वज्र नौकासे जाने योग्य नब्बे नदियोंके समीपके देशोंमें स्थिर हो चुका है, प्रभावी हो गया है, अर्थात् यह इन्द्र शत्रुके नब्बे नगरोंपर हमला करके उन्हें अपने अधिकारमें रखता है । यह सब बातें वह इसीलिए कर पाता है क्योंकि उसकी भुजाओंमें बल है । अतः राष्ट्रके हर व्यक्तिको अपनी शक्ति बढानी चाहिए ॥ ८ ॥

हे मनुष्यो ! तुम सहस्रोंकी संख्यामें मिलकर प्रभुकी प्रार्थना करो । यदि सहस्रों नहीं तो सैकड़ोंकी संख्यामें अवश्य सम्मिलित होओ, और यदि वह भी असंभव हो, तो बीसकी संख्यामें तो अवश्य ही संगठित होओ । इसमें मनुष्योंको संगठनका उपदेश दिया है । संगठनसे मनुष्योंके हृदय एक होते हैं और इस प्रकार देशकी सुरक्षा आसानीसे हो सकती है ॥ ९ ॥

(१२६)

ऋग्वेदका सुबोध भाष्य

- ८८७ इन्द्रो वृत्रस्य तविषीं निरहुन्सहसा सहः ।
महत् तदस्य पौंस्यं वृत्रं जघन्वाँ अष्टुज—दर्चन्ननु स्वराज्यम् ॥ १० ॥
- ८८८ इमे चित् तव मन्यवे वेपेते भियसा मही ।
यदिन्द्र वज्रिन्नोजसा वृत्रं मरुत्वाँ अवधी—रर्चन्ननु स्वराज्यम् ॥ ११ ॥
- ८८९ न वेपसा न तन्यते—न्द्रं वृत्रो वि वीभयत् ।
अभ्येनं वज्रं आयसः सहस्रभृष्टिरायता—र्चन्ननु स्वराज्यम् ॥ १२ ॥
- ८९० यद् वृत्रं तव चाशनिं वज्रेण समयोधयः ।
अहिमिन्द्र जिघांसतो दिवि ते बद्धधे शवो ऽर्चन्ननु स्वराज्यम् ॥ १३ ॥

अर्थ—[८८७] (इन्द्रः) इन्द्रने (सहसा) बलसे (वृत्रस्य तविषीं सहः निः अहन्) वृत्रकी सेना और बलको नष्ट कर दिया । (अस्य तत् पौंस्यं महत्) इसका वह पौरुष बहुत ही बड़ा है । (स्व-राज्यं) उसने अपने स्वराज्यकी पूजा करते हुए (वृत्रं जघन्वान्) वृत्रको मारा (अनु अर्चन्) और जलोंको बहनेके लिये खुला छोट दिया ॥ १० ॥

[८८८] (वज्रिन् इन्द्र) हे वज्रधारी इन्द्र ! (स्व-राज्यं अनु अर्चन्) अपने स्वराज्यकी पूजा करते हुए (यत् मरुत्वाँ ओजसा वृत्रं अवधीः) जब वीरोंको साथी बनानेवाले तूने अपने बलसे वृत्रका वध किया (इमे चित् मही) उस समय ये बड़े दोनों लोक (तव मन्यवे भियसा वेपेते) तेरे क्रोधके सम्मुख भयसे काँपने लगे ॥ ११ ॥

[८८९] (वृत्रः न वेपसा न तन्यता इन्द्रं वि वीभयत्) वृत्र न अपने कम्पन और नहीं अपनी गर्जनासे इन्द्रको डरा सका (स्व-राज्यं अनु अर्चन्) इसके विपरीत, जो इन्द्र स्व-राज्यकी पूजा करनेमें लगा हुआ था (एनं) उसके द्वारा इस वृत्रकी ओर (आयसः सहस्र-भृष्टिः वज्रः अभि आयत) लोहेका सहस्रों धारोंवाला वज्र फेंका गया ॥ १२ ॥

[८९०] (इन्द्रः) हे इन्द्र ! (यत् स्व-राज्यं अनु अर्चन्) जिस समय अपने स्वराज्यकी पूजा करते हुए तूने (वृत्रं चाशनिं च तव वज्रेण सं-अयोधयः) वृत्र और उसके विद्युत् जैसे तीक्ष्ण शस्त्रपर अपने वज्रसे प्रहार किया (अहिं जिघांसतः ते शवः) उस समय वृत्रको मारनेकी इच्छावाले तुझ इन्द्रका बल (दिवि बद्धधे) प्रकाशमय लोकमें भी स्थिर हो गया ॥ १३ ॥

भाषार्थ— इन्द्रने अपनी शक्तिसे शत्रुकी सेनाको नष्ट किया और उसके सामर्थ्यका नाश किया । अतः इन्द्रका सामर्थ्य बहुत बड़ा है । इन्द्रके समान ही राजा अपनी शक्तिसे शक्तिमान् बने । वह देशमें ही शस्त्रास्त्रोंका उत्पादन करे । किसी दूसरे देशसे शस्त्र न माँगे इस प्रकार अपनी ही शक्तिसे शक्तिशाली देश चिरस्थायी रह सकता है ॥ १० ॥

यह इन्द्र स्वतंत्रताका पूजक है । उसकी वह इस तरहसे रक्षा करता है कि कोई भी शत्रु उसकी स्वतंत्रताको नष्ट नहीं कर सकता । यदि कोई शत्रु उसके स्वराज्यको नष्ट करनेका प्रयत्न करता है, तो यह इन्द्र इतना क्रोधित होकर उसका नाश करता है कि उसके क्रोधको देखकर पृथ्वी और गोलोक भयसे काँपने लगते हैं । इसी प्रकार राजा अपने शत्रुओंका नाश करे ॥ ११ ॥

इन्द्र सौ धारोंवाले वज्रको शत्रु पर फेंक कर मारता है । इसी वज्रके कारण वह इतना निर्भीक है, कि वृत्र अपनी गर्जनासे और अपने वेगसे भी इन्द्रको भयभीत न कर सका । इसी प्रकार शत्रुके किसी भी प्रयत्नसे वीरोंको भय प्राप्त न होवे । अपने सब वीर निर्भय हों ॥ १२ ॥

जिस समय अपने स्वातंत्र्यका संरक्षण करते हुए इन्द्रने दास बनानेकी इच्छावाले शत्रु पर अपने वज्रसे प्रहार किया, तब उस इन्द्रका वास्तविक बल प्रकट हुआ और सब लोकोंमें उसका यश फैल गया ॥ १३ ॥

८९१ अभिष्टने ते अद्रिवो यत् स्या जगच्च रेजते ।

त्वष्टा चित् तव मन्यव इन्द्र वेविज्यते भिया—र्चननु स्वराज्यम् ॥ १४ ॥

८९२ नहि नु यादधीमसी—न्द्र को वीर्या परः ।

तस्मिन्नृष्णमुत क्रतुं देवा ओजांसि सं दधुर—र्चननु स्वराज्यम् ॥ १५ ॥

८९३ यामथर्वा मनुष्पिता दुध्यङ् धियमत्नत ।

तस्मिन् ब्रह्माणि पूर्वथे—न्द्र उक्था सममृता—र्चननु स्वराज्यम् ॥ १६ ॥

अर्थ— [८९१] (अद्रि-वः इन्द्र) हे पर्वतपर रहनेवाले इन्द्र (स्व-राज्य अनु अर्चन) तु अपने स्वराज्यका सम्मान करते हुए वृत्रको मारता है । (यत् ते अभि-स्तने स्थाः जगत् च रेजते) जब तेरे गर्जनेपर स्थावर और जंगम क्रोधके दोनों प्रकारके पदार्थ काँप उठते हैं (त्वष्टा चित् भिया तव मन्यवे वेविज्यते) तब त्वष्टा भी भयसे तेरे सम्मुख काँपने लगता है ॥ १४ ॥

[८९२] (स्व-राज्य अनु अर्चन) इन्द्र अपने स्वराज्यकी पूजा करता हुआ वृत्रको मारता है । (यात् नहि नु अधि-इमसि) उस सर्वत्र व्यापक इन्द्रको हम पूर्ण रूपसे नहीं जानते । (परः इन्द्र वीर्या कः) हमसे बहुत बुर स्थानमें रहनेवाले इन्द्र और उसकी शक्तियोंको कौन जान सकता है ? (देवाः) देवोंने (तस्मिन्) उस इन्द्रमें (ओजांसि नृष्णं उत क्रतुं सं दधुः) बल, धन और कार्यशक्ति स्थापित की ॥ १५ ॥

[८९३] इन्द्र (स्व-राज्य अनु अर्चन) अपने स्वराज्यकी पूजा करते हुए वृत्रको मारता है । (अथर्वा, पिता मनुः, दुध्यङ्) अथर्वा पालनकर्ता मनु और दुध्यङ् (यां धियं अत्नत) जिस बुद्धिको फैलाया (पूर्व-था) और पहलेकी भाँति उन्होंने (तस्मिन् इन्द्र ब्रह्माणि) उसी इन्द्रमें उन ज्ञानों (उक्था) और स्तोत्रोंको (सं अमृत) सुसंगत कर दिया, उसीके कार्यमें लगा दिया ॥ १६ ॥

भावार्थ— हे पर्वतके किलोंमें रहनेवाले इन्द्र ! तु अपने स्वराज्यका संरक्षण करते हुए जब वृत्रको मारता है और उसे मारते समय तू जो गर्जना करता है, उस गर्जनको सुनकर स्थावर और जंगम सभी काँप उठते हैं । औरोंका तो कहना ही क्या, स्वयं त्वष्टा देव भी काँप उठते हैं ॥ १४ ॥

जब वृत्रको मारते समय इन्द्रमें शक्ति और उत्साह भर जाता है, तब उसकी शक्ति और उत्साहका थाह कोई नहीं पा सकता । इसीलिए देवोंने उसे अपना नेता चुना और उसमें बल, वीर्य और कर्तृत्वशक्ति स्थापित की । इसी तरह हर मनुष्यको चाहिए कि वह शत्रुको परास्त करनेके लिए बल, वीर्य और कर्तृत्वशक्ति अपनेमें संगठित करे क्योंकि इन्हींसे शत्रुका पराभव होता है ॥ १५ ॥

(अ-थर्वा) चंचल मनसे रहित अर्थात् अचंचल वृत्तिवाला, सबका पालनकर्ता, मननशील मनुष्य ही सर्वत्र उत्तम बुद्धिको फैला सकता है । यह उत्तम बुद्धि जिस कार्यमें लगाई जाती है, वह कार्य सदा सबल होता है । इसीलिए इन्द्र इस बुद्धिका उपभोग करता है ॥ १६ ॥

(१९८)

ऋग्वेदका सुबोध भाष्य

[८१]

(ऋषिः— गोतमो राहूगणः । देवता— इन्द्रः । छन्दः— पंक्तिः ।)

८९४ इन्द्रो मदाय वावृधे शवसे वृत्रहा नृभिः ।

तमिन्महत्स्वाजिषू—तेमर्भे हवामहे स वाजेषु प्र नोऽविषत् ॥ १ ॥

८९५ असि हि वीर सेन्यो ऽसि भूरि परादुदिः ।

असि दुभ्रस्य चिद् वृधो यजमानाय शिक्षसि सुन्वते भूरि ते वसु ॥ २ ॥

८९६ यदुदीरत आजयो धृष्णवे धीयते घना ।

युक्ष्वा मदच्युता हरी कं हनः कं वसौ दधो ऽस्माँ इन्द्र वसौ दधः ॥ ३ ॥

[८१]

अर्थ— [८९४] (वृत्र-हा इन्द्रः) वृत्रनाशक इन्द्र (मदाय शवसे) आनन्द और बलके लिये (नृ-भिः वावृधे) मनुष्यों द्वारा बढाया जाता है । (तं इत्) हम उसी इन्द्रको (महत्-सु आजिषु उत ई अर्भे) बडे युद्धोंमें और उसीको छोटे युद्धोंमें (हवामहे) बुलाते हैं । (सः वाजेषु नः प्र अविषत्) वह युद्धोंमें हमारी रक्षा करे ॥ १ ॥

[८९५] (वीर) हे वीर ! (सेन्यः असि) तू सेनासे युक्त है । (भूरि परा-दुदिः असि) बहुत धन दान देनेवाला है । (दुभ्रस्य चिद् वृधः असि) तू छोटेको भी बडा करनेवाला है । (यजमानाय शिक्षसि) तू यज्ञ करने-वालेके लिये धन देता है । (सुन्वते ते वसु भूरि) सोमयाग करनेवालेको देनेके लिये तेरे पास बहुत धन है ॥ २ ॥

[८९६] (यत् आजयः उत्-ईरते) जिस समय युद्ध छिड जाते हैं (धृष्णवे घना धीयते) तब तेरे द्वारा निडर वीरके लिये धन दिया जाता है । (इन्द्र) हे इन्द्र ! (मद-च्युता हरी युक्ष्वा) तू अपने मद चुवानेवाले घोडोंको रथमें जोड । (कं हनः, कं वसौ दधः) तूने किसी दुष्टको मारा और किसीको धनके बीचमें रखा, धनवान् बना दिया । (अस्मान् वसौ दधः) तूने हमें धनके बीच रखकर धनवान् बनाया है ॥ ३ ॥

भावार्थ— यह इन्द्र शत्रुओंका नाश करता है, इसलिए सब इन्द्रदेवताकी प्रशंसा करते हैं । बडे और छोटे युद्धोंमें लोग अपनी सहायताके लिए इन्द्रकी प्रार्थना करते हैं । वह इन्द्र हमारी रक्षा करे । इन्द्रकी स्तुतिके मंत्रोंको पढनेसे मनुष्य अपना बल बढाने और शत्रुके नाशका उपाय जान सकता है और विजयी होनेका तरीका भी जान सकता है ॥ १ ॥

हे वीर ! तू सदा सेनासे युक्त है । वह वीर सेनाके साथ रहता है । वह छोटेको बडा करता है अर्थात् गिरे हुओंको ऊपर उठाता है । वह गरीबोंको दान देकर उन्हें श्रीसम्पन्न करता है । इसी तरह राजा भी गिरे हुओंको ऊंचा उठाये और उन्हें सम्पत्तिमान् बनाये ॥ २ ॥

जब युद्ध छिड जाते हैं, तब शत्रुओंका मुकाबला करनेके लिए निडर वीरको भरपूर धन देना चाहिए । ताकि वह वीर प्रसन्न हो और उस धनके उपयोगके लिए युद्धके साधनोंका भरपूर संग्रह कर सके । उस वीरके रथमें उत्तम उत्तम घोडे जोडे जायें । वह वीर भी श्रेष्ठ बुद्धिवाला हो और किसका वध किया जाए और किसे धनसे युक्त किया जाए, इसका विचार अच्छी तरह करे । ऐसा न हो कि मित्र तो मारा जाए और शत्रु धनवान् हो जाए ॥ ३ ॥

- ८९७ ऋत्वा महौ अनुष्वधं भीम आ वावृधे शवः ।
 ॥ १ ॥ श्रिय ऋष्व उपाकयो—नि शिप्री हरिवान् दधे हस्तयोर्वज्रमायसम् ॥ ४ ॥
- ८९८ आ पप्रौ पार्थिवं रजो बद्धधे रोचना दिवि ।
 ॥ २ ॥ न त्वावाँ इन्द्र कश्चन न जातो न जनिष्यते ऽति विश्वं ववक्षिथ ॥ ५ ॥
- ८९९ यो अर्यो मर्तभोजनं पराददाति दाशुषे ।
 इन्द्रो अस्मभ्यं शिक्षतु वि भञ्जा भूरि ते वसु भक्षीय तव राधसः ॥ ६ ॥
- ९०० मदेमदे हि नो ददि—यूथा गवांमृजुकृतुः ।
 ॥ ३ ॥ सं गृभाय पुरु शतो—भयाहस्त्या वसु शिशीहि राय आ भर ॥ ७ ॥

॥ अर्थ—[८९७] (ऋत्वा महान् भीमः) क्रियाशील होनेके कारण श्रेष्ठ और भयङ्कर प्रभाववान् इन्द्रने (अनु-स्वधं शवः आ वावृधे) योग्य अन्नके सेवनसे अपना बल बढ़ाया । (ऋष्वः शिप्री हरि-वान्) उस दर्शनीय, शिरस्त्राणधारी, घोड़ेवाले इन्द्रने (उपाकयोः हस्तयोः) अपने समीपवर्ती दोनों हाथोंमें (श्रिये आयसं वज्रं नि दधे) श्रीकी प्राप्तिके लिये लोहेका बना हुआ वज्र धारण किया है ॥ ४ ॥

[८९८] (इन्द्र) हे इन्द्र ! (पार्थिवं रजः आ पप्रौ) तूने अपनी व्यापकतासे पार्थिव लोकोंको पूरा भर दिया है । (दिवि रोचना बद्धधे) तूने दिव् लोकमें प्रकाशमय लोक स्थापित किये हैं । (कः च न त्वा-वान् न) कोई भी तेरे समान नहीं है । (न जातः) तेरे समान न कोई उत्पन्न हुआ था (न जनिष्यते) और न आगे उत्पन्न होगा (विश्वं अति ववक्षिथ) तू ही सम्पूर्ण विश्वको चला रहा है ॥ ५ ॥

[८९९] (यः अर्यः इन्द्रः) जो स्वामी इन्द्र (दाशुषे) दाताके लिये (मर्त-भोजनं परा-ददाति) मनुष्योंके भोगने योग्य धन देता है, (अस्मभ्यं शिक्षतु) वह हमारे लिये धनका दान करे (ते भूरि वसु वि भज) हे इन्द्र ! तू अपना विपुल धन हमें बाँट (तव राधसः भक्षीय) मैं तेरे धनका उपभोग करूँ ॥ ६ ॥

[९००] (ऋजु-कृतुः) हे इन्द्र ! सरल कर्मवाला तू (गवां यूथा) गायोंके झुण्ड (मदे-मदे हि नः ददिः) प्रत्येक आनन्दके समय हमें देनेवाला है । (पुरु शता वसु उभयाहस्त्या सं गृभाय) तू बहुत सैंकड़ों प्रकारका धन दोनों हाथोंसे ग्रहण कर (रायः आ भर) तू वीरता करके ऐश्वर्यका सम्पादन कर ॥ ७ ॥

भावार्थ—मनुष्य पुरुषार्थ करके भयंकर वीर हो सकता है अथवा पुरुषार्थ करनेवाला वीर होता है । इसके अलावा जो उत्तम उत्तम अन्न खाता है, वह भी उत्तम वीर होता है । ऐसा वीर शिरस्त्राण धारण करके शस्त्रास्त्र लेकर शत्रुओंका वध करता है ॥ ४ ॥

यह इन्द्र इतना महान् है कि अपनी शक्तिसे सब लोकोंमें व्याप्त है, सर्वत्र प्रकाशित होता है । अतः न इसके समान कोई उत्पन्न हुआ, न है और न आगे होगा ही । यह अद्वितीय और अकेला शाश्वतकालसे विश्वको चला रहा है ॥ ५ ॥

स्वामी दाताको मानवोंके योग्य भोजन देता है । स्वामी अपने सेवकोंके लिए जीवनवेतन देता है । जो ऐसा देता है, वही सच्चा और श्रेष्ठ स्वामी होता है अतः जिसके पास बहुत धन हो, उसे चाहिए कि वह उस धनको श्रेष्ठ मनुष्योंको दे ॥ ६ ॥

सरल भावसे कर्म करनेवाला गायोंके झुण्डोंका दान देवे । सैंकड़ों प्रकारका बहुत धन दोनों हाथोंमें लेकर लोगोंको देवे, चाकि सज्जन मनुष्य उस धनका उपभोग कर सके ॥ ७ ॥

(२००)

ऋग्वेदका सुबोध भाष्य

- ९०१ मादयस्व सुते सचा श्वसे शूर राघसे ।
 विद्या हि त्वा पुरुवसु—मप कामान्ससृज्महे ॥ ८ ॥
 ९०२ एते त इन्द्र जन्तवो विश्वं पुष्यन्ति वार्यम् ।
 अन्तर्हि ख्यो जनाना—मर्यो वेदो अदाशुषां तेषां नो वेद आ भर ॥ ९ ॥

[८२]

(ऋषिः— गोतमो राहृगणः । देवता— इन्द्रः । छन्दः— पंक्तिः, जगती ।)

- ९०३ उपो षु शृणुही गिरो मघवन् मातथा इव ।
 यदा नः सूनृतावतः कः आदर्थयास इद योजा न्विन्द्र ते हरी ॥ १ ॥
 ९०४ अक्षन्मीमदन्तु ह्य—व प्रिया अधूषत ।
 अस्तोषत स्वभानवो विप्रा नविष्ठया मती योजा न्विन्द्र ते हरी ॥ २ ॥

अर्थ—[९०१] (‘शूर’) हे शूर (श्वसे राघसे) बल और धनके लिये (सुते सचा मादयस्व) तू यज्ञस्थानमें एक साथ आनन्दित हो (त्वा पुरु-वसुं विद्या हि) हम तुझ विपुल सम्पत्तिवाले इन्द्रको निश्चय जानते हैं (कामान् उप ससृज्महे) तेरे सामने अपनी कामनाओंको रखते हैं (अथ नः अविता भव) अब तू हमारा रक्षक हो ॥ ८ ॥

[९०२] (इन्द्र) हे इन्द्र (एते जन्तवः ते विश्वं वार्यं पुष्यन्ति) ये सब प्राणी तेरे सम्पूर्ण वरणीय धनको बढ़ाते हैं (अर्यः) सबका स्वामी इन्द्र तू (अदाशुषां जनानां) दान न करनेवाले लोगोंके (अन्तः वेदः ख्यः हि) गुप्त धन जनता ही है (तेषां वेदः नः आ भर) तू उनका धन हमें ला दे ॥ ९ ॥

[८२]

[९०३] (मघ-वन्) हे धनवाले इन्द्र ! (गिरः उपो सु शृणुहि) तू हमारी प्रार्थनाओंको पास बैठकर सुन (अतथाः इव मा) परायेके समान मत हो (यदा नः सूनृता-वतः कः) जब तू हमें मीठी वाणीवाला करता है, (आत् अर्थयासे इत्) तब हमारा स्तोत्र चाहता ही है (इन्द्र) हे इन्द्र ! (ते हरी योज नु) तू अपने घोड़े शीघ्र जोड़ और यहां हमारे पास शीघ्र आ ॥ १ ॥

[९०४] हे इन्द्र ! (स्व-भानवः विप्राः अक्षन्,) अपने तेजसे तेजस्वी हुए बुद्धिमान् लोगोंने तेरा दिया अन्न खाया (अमीमदन्तु हि) और वे बहुत आनन्दित हुए (प्रियाः अव अधूषत) उस आनन्दमें उन्होंने अपने प्रिय मस्तक तेरे आदरके लिये कैपाये (नविष्ठया मती अस्तोषत) फिर प्रशंसासे भरपूर स्तोत्रसे तेरी प्रशंसा की (इन्द्र) हे इन्द्र ! (ते हरी योज नु) यज्ञमें जानेके लिये तू अपने घोड़े शीघ्र जोड़ ॥ २ ॥

भावार्थ— बलको बढ़ानेके लिए और धनकी वृद्धिके लिए अपने साथियोंके साथ आनन्द प्रसन्नके समयोंमें सहभागी होते रहें । इस प्रकार संगठित होकर हम एक दूसरेके रक्षक हों ॥ ८ ॥

स्वामी कंजूस मनुष्योंके सुरक्षित रखे धनको जानता है, अर्थात् उसे प्राप्त करके सबकी भलाईके लिए प्रयुक्त करता है ॥ ९ ॥

हे इन्द्र ! तू हमसे परायेके समान व्यवहार मत कर । तू हमें मीठी वाणीवाला कर । हम सदा एक दूसरेके साथ मधुरताका व्यवहार करें । इस प्रकार हम सब एक दूसरेको मित्र बनाकर संगठित होकर रहें । मीठी वाणी बोलनेसे सभी मित्रताका व्यवहार करते हैं ॥ १ ॥

बुद्धिमान् जन जिसका अन्न खाते हैं, उसकी प्रशंसा करते हैं, पर दुर्जन अपने अन्नदातासे ही ईर्ष्या एवं द्वेष करते हैं ॥ २ ॥

५६ [पृष्ठ २४० से चालु]

न्यता प्राप्त करनेकी कामना व्यक्त की गई है। इससे साधक के सारे पाप नष्ट हो जाते हैं और वह वज्रवत् दृढांग बन जाता है।

(३)

मंत्रका प्रथम अंश है— ' अग्ने ! इध्मं भराम् ' । अग्नि-का एक रूप भौतिक है जिससे वह आदित्य, विद्युत् और पार्थिव अग्निके रूपमें त्रिधा लोकमें स्थित है। ये तीनों रूप पुरोहित अग्निके हैं। ' इध्मं ' रूपोंमें सबके सामने रक्खा हुआ है। इसलिए इसे पुरोहित कहा जाता है। इसका आधि-दैविक रूप इनमें निहित सूक्ष्म-सूत्रक-शक्तिका है जो प्रच्छन्न होनेसे तिरोहित-अग्निके नामसे जाना जाता है। साधारण चर्म चक्षुओंसे इस रूपको नहीं जाना जा सकता। उसका एक अंश शरीरमें भी निहित है। शरीरके इस अंशका जब ब्रह्माण्डगत अग्नि देवसे समंजसता-पूर्ण सम्बन्ध स्थापित किया जाता है, तब इस अग्निका और इसके माध्यमसे उस परम-शक्तिका जिसका यह अंश है, प्रत्यक्ष अनुभव होता है। इस प्रकारका अनुभव प्राप्त करनेके लिए साधककी अभिलाषा है। इस उद्देश्यकी पूर्तिके लिए वह अग्निको प्रज्वलित करनेके साधन- इंधन एकत्र करना चाहता है। साधारण इंधनसे भौतिक अग्नि जलती है। आध्यात्मिक-अग्निको प्रज्वलित करनेके लिए यथोचित इंधन- समिधा (सम् + इन्ध् धातुसे व्युत्पन्न) को एकत्र नहीं, धारण (भराम्) करना है। अतः कहा गया है कि अग्नि देव, हम इंधन धारण करें।

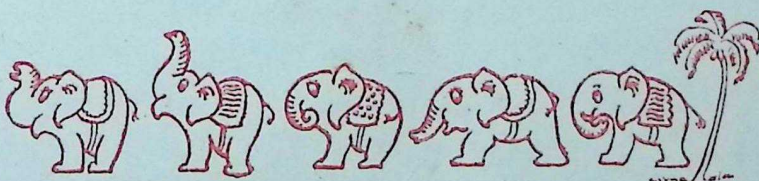
पर्वणा पर्वणा चित्तयन्तः वयं ते हवींषि कृणवाम- इस अंश का भाव यह है कि शरीरके पर्व-पर्वमें अग्निको चिताते हुए हम तुम्हारे लिए हवि करते हैं। किसको हवि दें ? शरीरके पर्वोंको ही हवि दें। यज्ञका रूप दक्षिणासे निर्धारित होता है। यज्ञसे आत्मदक्षिण (स्वयंको दक्षिणामें दे देना) होना आवश्यक है— आत्म-दक्षिणं वै सत्रम् (शांखा-यन ब्राह्मण १५।१) । उपरके वाक्यमें ' कृणवाम ' क्रियापद-

से स्पष्ट है कि हवि समर्पित करनेके भावको धारण किया जा रहा है। इस प्रकारकी श्रद्धा ही यज्ञ है। जिस जिस अंग (पर्व) को हवि किया जायगा, उसीमें अग्नि चेत (चित्त-यन्त क्रियापदका प्रयोग विशेष द्रष्टव्य) जायगी। जिसमें ऐसी अग्नि नहीं चेतती उसे ' नचिकेता ' संज्ञासे और जिसमें जिसमें चेत गई उसे ' चिकित्वान् ' संज्ञासे अभिहित किया जा सकता है। इस वाक्यका यही भाव है कि हे अग्ने ! हमारे शरीरके अंग अंग तुम्हारी ज्योतिसे ज्योतिषित हों, इसके लिए हम उन उन अंगोंको तुम्हारे प्रति समर्पित करके हविरूप बनाते हैं।

' जीवातवे धियं प्रतरं साधय '— इस वाक्यमें आयुकी वृद्धिके लिए उत्तम बुद्धि प्राप्त करनेकी कामना व्यक्त की गई है। यहाँ व्यंजित होता है कि उत्तम जीवनका सम्बन्ध विवेक (धियः) से है। विवेकपूर्वक जीवन धारण करनेके लिए सतत साधनाकी आवश्यकता है। उत्कृष्टतर साधना (प्रतरं) विवेकके रूपमें फलित होती है और विवेक उत्कृष्टतम जीवनका साधक है। अतः यहाँ प्रार्थना है कि हे अग्निदेव, हमें प्रज्ञावल प्रदान करके उत्कृष्ट और दीर्घ जीवन प्राप्त करनेकी साधनाके मार्गपर चलनेकी प्रेरणा दीजिए।

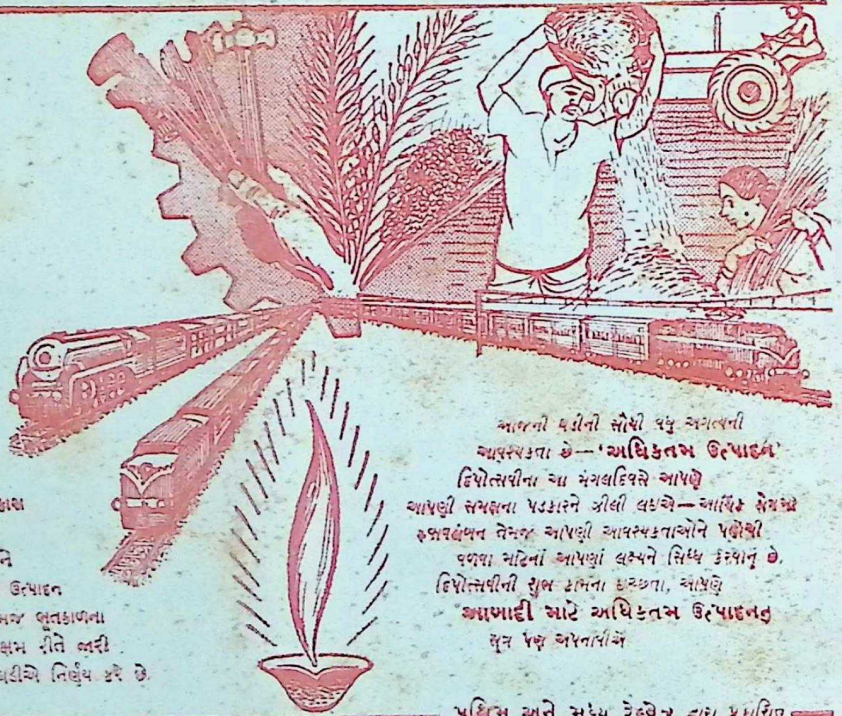
' तव सख्ये वयं मा रिषाम ' — अर्थात् हम तुम्हारी साधना करते हुए तुमसे मित्रता स्थापित करते कभी दुःखी या हिंसित न हों। मृत्युसे या तद्वत् दुःखोंसे बचानेवाला मित्र कहलाता है। यहाँ अग्निदेवसे सख्यभाव प्राप्त करके उसको ऐसे ही मित्रके रूपमें पानेकी अभिलाषा व्यक्त हुई है।

अग्निदेवसे मैत्री स्थापित हो जानेसे और प्राप्तव्य ज्योति, आयु और प्रज्ञाकी सिद्धि हो जानेसे साधक दृढ-चरित्र हो जाता है, उसके अंगोंमें दिव्यशक्तिका प्रादुर्भाव हो जाता है और वह मीनके समान अनन्य प्रेमसे समुपेत होकर दुःखोंसे मुक्ति पा लेता है। दुःखोंका दलन अमृतत्वकी प्राप्ति का प्रथम सोपान है।



અધિકતમ ઉત્પાદન પાણે એક પડકાર

ભારતીય રેલ્વે—
સામૂહિકરણ પામેલા
ઉદ્યોગમાં સૌથી વિશાળ
એવા આ વિભાગે રાષ્ટ્રની
જીવાદોરીસમા ઉદ્યોગના વિકાસ
માટેના તમામ પ્રયત્નોને
ભરી સખ્યા છે. 'મેતર અને
કારખાનાંઓમાં' અધિકતમ ઉત્પાદન
માટેનાં તેમના હાલના તેમજ ભૂતકાળના
તમામ પ્રયત્નોને વધુ કાર્યક્ષમ રીતે ભરી
રાખવાનો તેઓ આજની પ્રતિજ્ઞા તિર્ણ્ય કરે છે.



આજની પ્રતિજ્ઞા સૌથી વધુ અગત્યની
આવશ્યકતા છે—'અધિકતમ ઉત્પાદન'
દિપોત્સવીના આ મેગધદિવસે આપણે
આપણી સમક્ષના પડકારને ઝીલી લઈએ—આશિર કેવલ
રૂપરબંધન તેમજ આપણી આવશ્યકતાઓને પૂર્ણ કરી
વળગા મેટિનાં આપણાં લક્ષ્યને સિધ્ધ કરવાનું છે.
દિપોત્સવીની શુભ શમના હાર્દયપા, આપણે
આખાદી આટે અધિકતમ ઉત્પાદનનું
નૂન પક્ષ અપનવીએ.

પશ્ચિમ અને મધ્ય રેલ્વેઝ દ્વારા પ્રસારિત